दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री–जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० १२

महावीर के मार्ग पर....

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

भगवान महावीर के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करना ही उनका जन्मोत्सव मनाने की सबसे अच्छी रीति है।

वीर प्रभु जेसे परम वीतरागी संतों का स्मरण करके विचार करना चाहिये कि—उन्होंने किसप्रकार आत्मसाधना की और हमें कौनसा मार्ग बतलाया है ?.....

भगवान महावीर ने सांसारिक सुख–सुविधाओं को तिलांजलि देकर शाश्वत सुख की प्रापित का मार्ग ग्रहण किया और ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को ध्येय बनाकर, अभेद रत्नत्रय की आराधना द्वारा मोक्ष–सुख प्राप्त किया। समस्त संसारी जीवों को भी उन्होंने मोक्षमार्ग का ही उपदेश दिया है। हम उनका उपदेश ग्रहण करके उनके दरशाये हुए मार्ग पर चलें....

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अप्रैल १९६८] वार्षिक मूल्य ३) (२७६) एक अंक २५ पैसा [चैत्र सं० २४९४

धर्म की सच्ची प्रभावना

सम्यग्दृष्टि—धर्मात्मा अपने में चैतन्यधर्म की आराधना द्वारा तथा अन्य जीवों में उस आराधना की महिमा प्रसिद्ध करके धर्म की प्रभावना करते हैं।

जिसे अपने में तो धर्म का उद्भव नहीं हुआ, और जिन्हें धर्म का उद्भव हुआ है – ऐसे धर्मात्माओं के प्रति कोई सम्मान नहीं—ऐसे जीवों द्वारा धर्म की प्रभावना नहीं हो सकती।

धर्म की प्रभावना धन द्वारा नहीं होती। धर्म की प्रभावना धर्मात्मा द्वारा होती है; धर्म धर्मात्मा के आधार पर है, धर्म कोई धन के आधार पर नहीं; परंतु बाह्यदृष्टि होने के कारण लोगों को धर्मात्मा के हृदय की पहिचान मुश्किल हो गयी है।

लाखों-करोड़ों धर्मशास्त्रों के पढ़ने से अपने-आप जो रहस्य प्राप्त नहीं होता, यह रहस्य ज्ञानी धर्मात्मा एक वाक्य में समझा देते हैं।

लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने से जो प्रभावना नहीं होती, वह धर्मात्मा के एक वचन से होती है।

ज्ञानी धर्मात्माओं का जीवन ही स्वयं प्रभावना कर रहा है।

धर्म के आराधक धर्मात्मा को देखने से मुमुक्षुओं को आराधना का उत्साह जागृत होता है, कि वाह! यह धर्मात्मा कैसी धर्मसाधना कर रहे हैं! मैं भी ऐसे धर्म की साधना करूँ।

वीतरागी मुनिराज ध्यान में बैठे-बैठे भी धर्म की महान प्रभावना करते हैं; क्योंकि उनकी वीतरागी ध्यानमुद्रा देखकर ही दूसरे जीवों में धर्म की भावना जागृत है।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

अप्रैल : १९६८ ☆ चैत्र, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २३ वाँ ☆ अंक : १२

संतों की बात

संत कहते हैं कि—भाई, इस समय तुझे आत्मा का आनंद कमाने का अवसर आया है, इसे तू चूकना मत!

आचार्यदेव कहते हैं कि—स्वानुभव से मैं जो शुद्धात्मा बतलाता हूँ उसमें संदेह किये बिना अपने स्वानुभव से तू प्रमाण करना!

अनाकुलस्वरूप का ध्यान अनाकुल परिणति द्वारा ही होता है; उस ध्यान में ही आनंद स्फुरित होता है।

विकल्प तो आकुलता है, आकुलता में आनंद की स्फुरणा कैसे होगी?

आत्मा मिलता ही नहीं... ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं कि—भाई! जहाँ आत्मा है, वहाँ तू ढूँढ़ता ही नहीं, तो मिले कहाँ से? अंतर्मुख होकर ज्ञानभाव में ढूँढ़ तो तुझे अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी; परभाव में ढूँढ़ने से वह नहीं मिल सकता।

भगवान महावीर

संपादकीय

तीर्थंकर भगवान... मात्र भारत की ही नहीं परंतु समस्त विश्व की महान विभूति थे। इन्द्रों व चक्रवर्तियों की विभूति भी जिनके चरणों में नतमस्तक होती थी, ऐसे चौबीस तीर्थंकरों को अवतरित करने का गौरव अपनी इस भारतजननी को ही प्राप्त है। तीर्थंकरों के विहार से पावन अपने इस भारत देश की धार्मिक समृद्धि सभी देशों में सर्वोत्कृष्ट है।

ढाई हजार वर्ष भी पूरे नहीं हुए जब भगवान वर्द्धमान तीर्थंकर इस भरतभूमि में साक्षात् विचरते थे और श्रेणिक राजा जैसे अनेक राजा-महाराजा उनके उपदेश से अपने आत्मा को पावन करते थे। राजगृही नगरी के रजकण भी उन तीर्थंकर के स्पर्श से तीर्थरूप बन गये और भावश्रुत द्वारा जिन्होंने तीर्थंकर भगवान का भावस्पर्श किया। वे जीव रत्नत्रय की प्राप्ति करके भावतीर्थरूप बन गये। आज भी वर्द्धमान प्रभु की वाणी का प्रवाह अपने सौराष्ट्र से बहकर सारे भारत को परिप्लावित कर रहा है। भगवान महावीर की सच्ची महत्ता तब समझ में आती है, जब उनके उपदेश का रहस्य समझकर उसे आत्मसात् करें। महावीर कोई साधारण मनुष्य नहीं थे; उन्हें महामानव कहना भी उचित नहीं है; वे तो सर्वज्ञता को प्राप्त परमात्मा थे। उन्हें सर्वज्ञ-वीतराग कहना ही उनकी यथार्थ पहिचान है।

—ऐसे महावीर भगवान ने २५६६ वर्ष चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन कुंडलपुर नगर में महाराजा सिद्धार्थ और त्रिशला माता के यहाँ जन्म लिया था... सर्वज्ञपद की साधना के लिये ही मानों उन्होंने अवतार धारण किया था और ७२ वर्ष की आयु में वह आत्मसाधना पूर्ण करना थी। उन्होंने न तो विवाह किया और न वे राजपाट के मोह में फँसे... माता-पिता के अपार स्नेह को भी छोड़कर त्रिशला माता का वह इकलौता पुत्र उनकी आज्ञा लेकर वीतरागदशा अंगीकार करके केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये चल पड़ा... निर्ग्रंथ साधु बनकर, मौन धारण करके आत्मसाधना में ही अपना चित्त लगाया... सर्वज्ञ होने से पूर्व अपूर्णदशा में उन्होंने कोई उपदेश नहीं दिया... तीर्थंकर मुनिदशा में मौन ही रहते हैं।—कैसा उत्तम आदर्श!

साढ़े बारह वर्ष तक आत्मसाधना के पश्चात् ४२ वर्ष की आयु में उन्होंने केवलज्ञान प्रगट किया और अरिहंत हुए; फिर विपुलाचल पर समवसरण में दिव्यध्वनि की वर्षा करके

रत्नत्रय-पुष्पों से भारत को सुरभित बनाया। तीस वर्ष तक धर्म का स्रोत बहाकर अंत में पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया और मोक्ष पधारे... सिद्धालय में विराजमान हुए... छह वर्ष बाद उनके निर्वाण को ढाई हजार वर्ष पूरे होंगे।

भारत के साधर्मी बंधुओं! आओ, हम सब मिलकर अपने वीर प्रभु के शासन को उन्नत बनायें... उनके दर्शाये हुए रत्नत्रयमार्ग को पहिचानकर उसकी उपासना करें। महावीर भगवान का जन्मोत्सव ऐसी उत्तम भावना से मनाये कि जैन-जैन के बीच कहीं विसंवाद न रहे और सारा देश जैनशासन के गौरवनाद से गूँज उठे। इसप्रकार मंगल-जन्मोत्सव मनाएँ मानों आज भी भगवान हमारी समक्ष विराजमान हों और हम सब उनकी छत्रछाया में धर्मसाधना करते हों... तीर्थंकरदेव के जन्मकाल में भारत में जैसी धार्मिक समृद्धि थी, वैसी ही धार्मिक समृद्धि से भारत देश पुनः छलक उठे—ऐसा यथासम्भव प्रयत्न करें। साथ ही भगवान महावीर से प्रार्थना करें कि—

हे प्रभो! आज ढाई हजार वर्ष होने पर भी यह भारत देश आपको भूला नहीं है... अनेक कठिनाइयों के बीच भी आपका धर्मशासन जयवंत वर्त रहा है... आपके द्वारा प्रवाहित धर्मप्रवाह को वीतरागी संत-मुनियों ने सूखने नहीं दिया... वह वीतरागी अमृत आज भी भारत के लाखों जीवों को नवजीवन का आनंद दे रहा है... आपके परम उपकार का भारत के भव्य जीव अत्यंत भक्तिभावपूर्वक स्मरण करते हैं।

जय महावीर!

आत्मा का व्यवहार

आत्मा अविनाशी, पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पर से भिन्न सिद्ध समान है—ऐसी निःशंक श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान तथा उस ज्ञान में स्थिरता, ऐसा व्यवहार वह लोकोत्तर मार्ग है। इस काल में परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं होता, परंतु दृढ़तर सम्यक्त्व होता है; पूर्ण केवलज्ञान न हो, परंतु उसका बीजारोपण होता है; इस काल में एकावतारीपन हो सकता है।

सच्चा ज्ञान, सच्ची श्रद्धा तथा रागरहित निर्मल ज्ञान में स्थिर रहना, सो चारित्र है; वह आत्मा का व्यवहार है। राग की वृत्ति उठे, उसका अभाव करके ज्ञान में स्थिर रहना, वह व्यवहार है; शरीर की क्रिया या शुभयोग, वह आत्मा का व्यवहार नहीं है। *[आत्मसिद्धि-प्रवचन से]*

धर्मी का ध्येय

[समयसार-कलश २२३ के प्रवचन से]

हे जीव! तुझे आत्मा को ध्येय बनाकर आनंद की प्राप्ति करना हो तो क्या करना चाहिए—वह संत तुझे बतलाते हैं।

राग को ध्येय में न लेकर स्वतत्त्व ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप को ध्येय बनाकर उसमें अपना लक्ष कर। अपने स्वतत्त्व के अभ्यास का मार्ग तूने कभी नहीं लिया, अकेला पर का और राग का ही अभ्यास तूने किया है। अब उसकी दिशा बदलकर स्वतत्त्व को ध्येय बनाने की यह बात है।

धर्मी जीव ने अपना ध्येय बदल दिया है; परध्येय छोड़कर ज्ञानानंदमूर्ति निजात्मा को ध्येय बनाया है। ज्ञानचेतना को अंतर्मुख किया है। देखो, धर्मी की ज्ञानचेतना अंतर में आत्मा को चेतने का (अनुभवने का) कार्य करती है। बाह्य ज्ञातृत्व का विकास कम-अधिक होना, वह कहीं ज्ञानचेतना का कार्य नहीं है; ज्ञानचेतना तो अंतर्मुख कार्य करती है; वह आत्मा को लक्ष बनाती है। अंतर्मुख ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी ने आत्मानंद का भंडार खोल दिया है और उसी को ध्येय बनाया है। धर्मी की दृष्टि नित्य निजात्मा को ही स्पर्श करती है, राग को स्पर्श नहीं करती। स्पर्श करती है अर्थात् वेदन करती है, अनुभव करती है, एकता करती है। पहले अज्ञानदशा में विकार का ही वेदन करता था, उसी को आत्मारूप मानता था; उसके बदले अब ध्येय को बदल दिया और ज्ञानचेतना द्वारा विकार से पार ऐसे शुद्धात्मा का वेदन किया, उसी को निजस्वरूप जाना, उसी को ध्येय बनाया।

देखो, यह धर्मी का ध्येय!

हे जीव! तुझे आनंद की प्राप्ति करना हो तो तू भी अपने ऐसे आत्मा को ध्येय बना!

निजद्रव्य और परद्रव्य

(परमात्मप्रकाश गाथा-११३)

शरीरादि परद्रव्य की प्रति छोड़कर तू अपनी मति को शुद्धचैतन्यमय स्वद्रव्य में लगा; क्योंकि जिधर मति उधर गति, अर्थात् तू जिसकी रुचि करेगा, उसी जैसा तेरा परिणमन होगा। शुद्धस्वभाव की रुचि करने से तेरी पर्याय में शुद्धता का परिणमन होगा, इसलिये परद्रव्य की प्रीति छोड़कर तू स्वद्रव्य में मन लगा।

यहाँ शिष्य पूछता है कि—आपने परद्रव्य का प्रेम छोड़ने को कहा, तो परद्रव्य क्या है और स्वद्रव्य क्या है ?-वह बतलाइये। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य—ऐसे अनंत चतुष्टस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा, वह स्वद्रव्य है और उसके अतिरिक्त अन्य पाँच जड़द्रव्य, वे परद्रव्य हैं; तथा राग-द्वेष-मोहादि जो विकारी भाव हैं, वे भी वास्तव में परद्रव्य हैं; उनका संबंध यद्यपि जीव के साथ है, तथापि सचमुच वह स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह भी परद्रव्य है। ऐसे परद्रव्य की प्रीति तू छोड़ और अनंतचतुष्टय से परिपूर्ण स्वद्रव्य को प्रीति कर।

भाई, तेरा स्वद्रव्य क्या ? तेरा निजस्वरूप क्या ? तेरे आत्मा का वैभव क्या ? कि जिसे जानने से आनंद होता है—वह तुझे संत बतलाते हैं। अरे, अपने स्वद्रव्य को तूने कभी जाना ही नहीं। स्वद्रव्य को नहीं जाना, इसलिये परद्रव्य को भी नहीं पहिचान सका। क्योंकि जो परद्रव्य है, जो स्वद्रव्य नहीं है, उसे स्वद्रव्य मान लिया, इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्य के विभाग करना नहीं जानता।

शरीरादि जड़ को तो आत्मा से भिन्न जल्दी मान लेता है, परंतु भीतर जो रागादि-भावकर्म हैं, वह भी आत्मा का स्वद्रव्य नहीं है; आत्मा का स्वद्रव्य तो ज्ञानादि अनंत गुणस्वरूप है और उससे भिन्न दूसरे सब परद्रव्य हैं, ऐसा तू नहीं जानता। हे भाई ! तेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा रागरूप नहीं है; तेरा तो 'ज्ञान' है; ज्ञान से भिन्न कोई पदार्थ तेरा नहीं है। इसलिये ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा की प्रीति कर।

आत्मा की ऐसी प्रीति का कितना सामर्थ्य है ? वह आगे कहेंगे। ●

साधक के अंतर की झंकार

[सिद्धपद को साधने के लिये तत्पर साधक-मुमुक्षु निज-परमात्मस्वरूप की प्रतीति की झंकार करता हुआ स्व-सन्मुख होकर सिद्धपद को साधता है।—उसका प्रभावशाली वर्णन]

[श्री योगीन्दुदेव कृत 'योगसार' पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

जिनवाणी के चारों अनुयोग के लाखों कथनों का सार यह है कि-मैं परमात्मा हूँ।—इसप्रकार शुद्धनय द्वारा स्वानुभवप्रत्यक्ष निजपरमात्मस्वरूप की प्रतीति करके जो आत्मा जागृत हुआ, उसे राग की रुचि किंचित् नहीं होती। अब कहीं भी रुके बिना परमात्मा होना ही है।—इसप्रकार अपने आत्मा को सर्वज्ञ समान पूर्णस्वरूप से श्रद्धा तथा अनुभव में लेना, वह सर्व जिनसिद्धांत का सार है।

जिन सोही है आतमा, अन्य होई सो कर्म;
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म।

जो पूर्णता को साधने के लिये चला हो, उसकी प्रतीति की झंकार गुप्त नहीं रहती। जैसे युद्ध के मैदान में जाता हुआ शूरवीर कायरता की बात नहीं करता; उसीप्रकार चैतन्य की परमात्मदशा को साधने के लिये उद्यत मुमुक्षु जीव राग की रुचि में नहीं रुकता। किसी प्रकार का राग करने योग्य है, ऐसा वह नहीं मानता; अपने में अल्पता को नहीं देखता; परंतु मैं सदा पूर्णानंद से परिपूर्ण परमात्मा हूँ—इसप्रकार जो अखंड सत्स्वभाव की झंकार करता हुआ चल पड़ा, उसकी शूरवीरता छिपी नहीं रहती।

मुझमें पूर्ण परमात्मशक्ति है; वर्तमान व्यक्त अंश जितना मैं नहीं हूँ—इसप्रकार जो स्वसन्मुख होकर अनुभव करता है, वही अन्य परमात्मा को सच्चेरूप में पहचान सकता है। अपने में परमात्मपद की प्रतीति किये बिना दूसरे परमात्मा के स्वरूप की पहिचान नहीं हो सकती। अतः अन्य सब विकल्पजाल को छोड़कर हे जीव! स्व में ही उपयोग लगा और 'मैं ही सर्व गुणसम्पन्न परमात्मा हूँ' इसप्रकार निश्चय आत्मा का अनुभव कर।-यही सिद्धांत का सार है।

'मैं रागी-द्वेषी हूँ, मैं मनुष्य हूँ'—इसप्रकार आत्मा का चिंतवन करने से परमात्मपना प्रगट नहीं होगा; किंतु 'मैं रागी नहीं हूँ, अपूर्ण नहीं हूँ, मैं तो सदा परमात्मा हूँ'—इसप्रकार आत्मा का परमात्मरूप से चिंतवन करने से परमात्मपना प्रगट होता है। हे जीव! इस लोकोत्तरमार्ग को साधते-साधते तू लोकेषणा में नहीं रुकना। लोग क्या कहेंगे- उसकी परवाह मत करना; बाह्य पदार्थों की महत्ता सर्वथा छोड़कर सभी विकल्पों के जाल को तोड़कर अपने परमस्वरूप को प्रतीति में लेना, तथा उसी का चिंतन करना। 'मैं सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण भगवान हूँ'—ऐसे अनुभव के बल से मोक्षमार्ग को साधने के लिये तत्पर हुआ, वह साधक कभी मोक्षमार्ग से विमुख नहीं हो सकता, वह अप्रतिहतभाव से मोक्ष की प्राप्ति करेगा ही।

'मैं परमात्मा हूँ'—ऐसे अपने स्वभाव को अस्वीकार करके जो रागादिभावरूप ही आत्मा का अनुभव करता है, वह जीव स्वभावसत्ता का अनादर करके नास्तिक बन जायेगा। तथा राग से पार मेरी चैतन्यसत्ता में परमात्मपना विद्यमान है—ऐसे स्वभाव का अनुभव करनेवाला ज्ञानी राग को तोड़कर अतीन्द्रिय परमात्मा बनेगा; अन्य जीव इन्द्रियों द्वारा जिसका अस्तित्व न जान सकें—ऐसे सिद्धपद की उसे प्राप्ति होगी।

विकल्पों की जाति का मैं नहीं हूँ, मैं तो सिद्ध परमात्मा की जाति का हूँ—इसप्रकार अपने आत्मा को सिद्धस्वरूप से ध्याने पर साधक के अंतरंग में परम आनंदरूपी अमृतधारा उल्लसित होती है। वाणी एवं विकल्पों से पार अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप आत्मा स्वानुभव का ही विषय है। अरे, ऐसे परम अचिंत्य महिमावंत तत्त्व का तू अंतर में दृष्टि डालकर—उपयोग लगाकर अवलोकन कर। अंतर में जिसका अवलोकन करके तू कृतकृत्य हो जाये-ऐसा तेरा स्वरूप है।

जिनेन्द्रदेव समान अपने स्वरूप को लक्ष्य में लेकर तू प्रतिक्षण उसका चिंतवन कर, जिससे तुझे आनंद की उत्पत्ति होगी और विकल्पों का कोलाहल शांत हो जायेगा। तेरा स्वरूप विकल्पों के कोलाहल से रहित नित्य विज्ञानघन है; विकल्पों के द्वारा उसका अनुभव कैसे हो ? आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान-आनंद-चारित्र सब अतीन्द्रिय हैं, मन के विकल्पों से पार हैं। ऐसे स्वभाव को साधने के लिये जो जीव जागृत हुआ, उस साधक के अंतर की झंकार कुछ और ही प्रकार की होती है।●

बहुमूल्य रत्न

[परमात्मप्रकाश, गाथा ७५ के प्रवचन से]

आत्मा के शुद्ध उपयोग के साथ रहनेवाले ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भावस्वरूप शुद्ध आत्मा का तू चिंतन कर। जिस श्रद्धा ने शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लिया, वह श्रद्धा मूल्यवान है। जिस ज्ञान ने स्वसन्मुख होकर आत्मा को जाना, वह ज्ञान मूल्यवान है और जो चारित्र स्वसन्मुख होकर स्वरूप में स्थिर हुआ, वह चारित्र मूल्यवान है।—ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मूल्यवान हैं; इसलिये इन तीनों को रत्न कहा है। मोक्षमार्ग में तो ऐसे रत्नत्रय हैं और इन रत्नों का ही सच्चा मूल्य है। व्यवहार के विकल्पों का अथवा बाह्य ज्ञातृत्व का मूल्य नहीं है।

भाई, विकल्पों को समेटकर अंतर्मुख निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा अपने आत्मा को चिंतवन में ले। बाहर के देखे हुए-सुने हुए-अनुभव किये हुए पदार्थों को भूलकर, अंतर की चैतन्यवस्तु का विस्मय लाकर उसे देख-जान-अनुभव कर। यही रत्नत्रयरूप स्वसमय में स्थिति है। शुद्धरत्नत्रय वह अतीन्द्रिय आनंदमय है, उसमें अतीन्द्रिय आनंद झरता है। ऐसे रत्नत्रय में स्थित अतीन्द्रिय आनंद के साथ तन्मय आत्मा ही उपादेय है। अभेद रत्नत्रय द्वारा ही वह उपादेय होता है; विकल्प द्वारा उपादेय नहीं होता।

जो निकट मोक्षगामी हैं, जो अभेद रत्नत्रय के आराधक हैं, उन जीवों को ऐसा आत्मा ही उपादेय है। जिस परिणाम ने अंतर्मुख होकर ऐसे आत्मा को ग्रहण किया, उस परिणाम का ही मूल्य है।

जिस परिणाम ने शुद्धात्मा को प्रतीति में लिया, वह श्रद्धा परिणाम महामूल्यवान रत्न है... वह मोक्षमार्ग का प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन है।

जिस परिणाम ने अंतरोन्मुख होकर शुद्धात्मा को अपना ज्ञेय बनाया, वह ज्ञान-परिणाम अति मूल्यवान है; वही मोक्षमार्ग का द्वितीय रत्न सम्यग्ज्ञान है।

जो परिणाम स्व में लीन होकर अतीन्द्रिय आनंद में स्थिर हुआ, वह परिणाम बहुमूल्य है; वह मोक्षमार्ग का तीसरा चारित्ररत्न है।

अहो, ऐसे इन रत्नों का मूल्य जगत को भासित नहीं होता। जिसमें विकल्प का राग नहीं है, ऐसे इस शुद्ध रत्नत्रय को धारण करनेवाला जीव अति निकट-भव्य है। वह चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का चारा चरने में ऐसा तल्लीन है कि सिर उठाकर बाहर की ओर नहीं देखता, उसके अंतर में विकल्प का उत्थान नहीं होता। स्वयं अपने में लीन होकर स्वरूप का वेदन करता है।—उसी ने आत्मा को उपादेय किया कहा जाता है... और शुद्ध आत्मा को उपादेय करनेवाले ऐसे परिणाम ही सच्चे बहुमूल्य परिणाम हैं।●

❀ हे वत्स! तुझे आत्मा को साधना है?

— हाँ।

❀ तो किसके पास जाकर साधेगा?

— अपने में स्वभावोन्मुख होकर आत्मा को साधूँगा।

❀ स्वभावोन्मुख किसप्रकार होगा?

— स्वभाव को पर से अत्यंत पृथक् जानकर एवं निजसामर्थ्य की अचिंत्य महिमा लाकर बारंबार अंतरप्रयत्न करके स्वभावोन्मुख होऊँगा। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके ज्ञान को अंतरोन्मुख करूँगा। जगत की रुचि छोड़कर एवं स्वभाव की परम रुचि करके स्वसन्मुख परिणति करूँगा।

❀ तेरा मुख्य कार्य क्या है?

— स्वभाव की साधना ही मेरा मुख्य कार्य है।

तत्त्वचर्चा

[लेखांक - १०]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय 'दस प्रश्न और उनके उत्तर' का यह विभाग पूज्य स्वामीजी के समक्ष हुई तत्त्वचर्चा से तथा शास्त्रों पर से तैयार किया जाता है। —सम्पादक

(९१) **प्रश्न**—ज्ञान और ज्ञेय दोनों का क्षेत्र समान है ?

उत्तर—नहीं, ज्ञान के क्षेत्र की अपेक्षा ज्ञेय का क्षेत्र अनंतगुना अधिक है। ज्ञान का क्षेत्र तो असंख्य प्रदेशी है और ज्ञेय तो अनंत प्रदेशी लोकालोक है।

(९२) **प्रश्न**—छोटे क्षेत्र में बड़ा क्षेत्र किसप्रकार ज्ञात होगा ? ज्ञान का क्षेत्र तो छोटा है और ज्ञेय का क्षेत्र विशाल है, तो छोटे क्षेत्रवाले ज्ञान में विशाल क्षेत्रवाला ज्ञेय किसप्रकार ज्ञात होगा ?

उत्तर—ज्ञाता की शक्ति ही ऐसी है कि वह अनंत ज्ञेयों को जाने। बड़े ज्ञेयों को जानने के लिये क्षेत्र से बड़ा होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ने पर उसकी अवगाहनारूप क्षेत्र बढ़ जाये, ऐसा नहीं है; मानो यदि ऐसा हो तो केवलज्ञान (-परिपूर्ण, अमर्यादित ज्ञान) होने से वह आत्मा लोकालोक में कहीं भी समा नहीं सकेगा—रह नहीं सकेगा!!

केवलज्ञान (-सर्वज्ञ का ज्ञान) का क्षेत्र शरीर-प्रमाण मर्यादित ही है, किंतु उसका सामर्थ्य अमर्यादित-बेहद है; इसलिये अपने स्वक्षेत्र से अनंतानंतगुने बड़े क्षेत्र को भी वह जानता ही है। जिसप्रकार स्वयं एक होने पर भी अनंत ज्ञेयपदार्थों को जानता ही है, उसीप्रक र स्वयं केवलज्ञान स्वयं एक समय का होने पर भी एक साथ अनंत काल को जानता ही है; स्वयं मध्यम क्षेत्रवान होने पर केवलज्ञान अनंत अलोक के क्षेत्र को जानता है; ऐसा अपार सामर्थ्य अचिंत्य शक्ति उसको प्रगट हो गई है; उसका निर्णय करनेवाला ज्ञान भी अपार सामर्थ्यवान, अतीन्द्रिय हो जाता है। वह ज्ञान परभाव में कहीं भी रुकता नहीं।

(९३) **प्रश्न**—विकल्प को तोड़ने की विधि क्या है ?

उत्तर—प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान का वेदन, वही विकल्प को तोड़ने की विधि है। भेदज्ञान की उत्पत्ति के समय ज्ञान निजस्वरूपसन्मुख है; उस समय जो विकल्प का अभाव ही है। ज्ञान का लक्षण तथा राग का लक्षण पृथक् है, इसप्रकार दोनों के लक्षण द्वारा उनकी भिन्नता जानकर संधि को छोड़कर ज्ञान को स्वोन्मुख किया, वही अपूर्व आत्मानुभूति का और सम्यक्त्व की उत्पत्ति का समय है। राग और ज्ञान की एकतारूप संधि छेदनेवाला यह ज्ञान अतीव तीक्ष्ण है; बहुत उपशांत-धैर्यवान-एकाग्र होकर अंतरोन्मुख हुआ है। भव को छेदनेवाले ऐसे ज्ञान को भेदज्ञान के निरंतर अभ्यास द्वारा प्रगट करना, वही विकल्प को नष्ट करने की विधि है।

(९४) **प्रश्न**—संतों-सज्जनों को जगत में क्या प्रिय है ?

उत्तर—आनंद का धाम ऐसा शुद्ध आत्मा संतों को प्रिय है। दिन-रात वे उसी को ध्येयरूप से ध्यान में लेते हैं।

'सुखधाम अनंत सु संत चही, दिनरात्रि रहें तद्ध्यान मही,
पर शांत अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वरते जयते।'

(श्रीमद् राजचंद्र)

(९५) **प्रश्न**—आत्मा के सभी प्रदेशों में ज्ञानावरणीय आदि जड़कर्म बँधे हुए हैं, उसका क्या प्रमाण ?

उत्तर—कर्मबंध होने में कारण जो रागादि दोष हैं, वह चारित्रगुण की अशुद्ध दशा है; और वह सर्वात्म प्रदेशों में है। आत्मा के अमुक क्षेत्र में ही राग उत्पन्न हो और दूसरे अन्य प्रदेश (-क्षेत्र) रागरहित रहें, ऐसा नहीं होता।

अब, जैसे कर्म तथा उसके कारणरूप राग सर्व प्रदेशों में है, उसीप्रकार कर्म संबंध का नाश करनेवाला ज्ञानभाव भी सर्व आत्मप्रदेशों में है।

इसप्रकार ज्ञान, राग तथा कर्मसंबंध एक-क्षेत्र से सर्व आत्मप्रदेशों में होने पर भी लक्षणभेद के कारण उनमें भिन्नता है। ज्ञान तो स्वलक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के साथ तन्मय है, राग का संबंध अजीव कर्म के साथ है; वह राग तथा कर्म दोनों शुद्ध जीव के लक्षणभूत नहीं हैं। जो ज्ञान है, वही आत्मा की स्वजाति है। जो राग है, वह शुद्धजीव की जाति नहीं है, इसलिये वह जीव नहीं। रागरहित जीव हो सकता है, कर्मों के संबंध से रहित जीव हो सकता है, परंतु ज्ञान से रहित जीव कभी नहीं होता।

(९६) **प्रश्न**—आत्मा कितना (कैसा) है ?

उत्तर—वीतरागी स्वसंवेदन ज्ञान में जो ग्राह्य हो सके उतना है। हे शिष्य! वीतरागी स्वसंवेदनज्ञान से जो ग्राह्य होता है, उसी को तू निःसंदेह होकर आत्मा जान। स्वसंवेदनज्ञान प्रतिसमय वीतरागतासहित ही होता है; उस स्वसंवेदन में राग की किंचित् भी सहायता नहीं है। राग से भिन्न वस्तु की प्राप्ति राग द्वारा किसप्रकार हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती; वीतरागी स्वसंवेदन द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है।

(९७) **प्रश्न**—'अपलक्षण' अर्थात् क्या ?

उत्तर—लक्षण से विरुद्ध वह अपलक्षण। आत्मा का लक्षण ज्ञान है, उससे विपरीत जो रागादि हैं, वह अपलक्षण। ज्ञानलक्षण को भूलकर जो जीव रागादि से लाभ मानते हैं, वह अपलक्षण को सेवन करनेवाले हैं। प्रभु आत्मा में ज्ञानादि निजगुणों का पार नहीं; परंतु उन्हें भूलकर वह रागादि का सेवन करता हुआ, उन्हीं जितना अपने को मानकर पामर (मूर्ख) हो रहा है। प्रभु! स्वलक्षण से अपने आत्मा को पहिचानकर उसका विश्वास कर।

(९८) **प्रश्न**—शुद्ध उपयोग तथा शुद्धपरिणति इन दोनों में क्या अंतर है ?

उत्तर—शुद्ध उपयोग तो स्वरूप के निर्विकल्प ध्यान के समय ही होता है; निचले गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को कभी-कभी होता है, सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर वह निरंतर होता है। परंतु शुद्ध परिणति तो धर्मी को प्रतिसमय भूमिकानुसार बनी ही रहती है। चौथे गुणस्थान से ही शुद्ध परिणति प्रारम्भ होकर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। शुद्ध उपयोग नहीं हो, तब भी धर्मी को सम्यक्त्वादि धर्म बना रहता है; शुद्ध परिणति न होने पर वहाँ धर्म नहीं होता। शुभ तथा अशुभ परिणाम के समय भी सम्यक्त्वादि जो शुद्ध परिणति प्रगट हुई है, वह तो धर्मी के रहती ही है। शुभ तथा अशुभ उपयोग के समय शुद्ध-उपयोग न होने पर भी शुद्ध परिणति तो धर्मी को रहती ही है। शुद्ध उपयोग, वह ज्ञान की स्वसन्मुख परिणति है; तथा शुद्ध परिणति तो श्रद्धा में, ज्ञान में, चारित्र में, सुख में—सभी गुणों की परिणति में होती है। इसप्रकार शुद्धोपयोग तथा शुद्धपरिणति की विशेषता समझना। शुद्धोपयोग को शुद्ध परिणति भी कह सकते हैं। शुद्ध उपयोग तथा शुद्धपरिणति दोनों रागरहित हैं। शुभ उपयोग, वह शुद्ध नहीं है, उसका समावेश अशुद्ध उपयोग में ही है, तथा वह अशुद्ध परिणति में ही जाता है। जितनी शुद्ध परिणति है, उतना ही धर्म है।

(९९) **प्रश्न**—एक ओर तो नरक में भी सम्यग्दृष्टि को सुखरस की गटागटी कही, तथा दूसरी ओर यहाँ का मुनि स्वर्ग में जाये तो वहाँ पुण्य-सम्पदारूप क्लेश का ही वेदन करता है—ऐसा कहा; तब नरक में सुख तथा स्वर्ग में दु:ख कहा-वह किसप्रकार से ?

उत्तर—नरक में सम्यग्दृष्टि को जो सुख कहा, वह सम्यग्दर्शनसहित जितना सुख प्रगट हुआ है, उसकी मुख्य विवक्षा से कहा। और स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि को जो पुण्यफल के भोग में क्लेश कहा गया; इसके साथ उसको सम्यग्दर्शनजन्य जो सुख है, वह तो बना ही है। परंतु उसके साथ के राग में (पुण्यफलरूप सामग्री की रुचि में) सुख नहीं परंतु आकुलता है। यह बतलाने के लिये उसे क्लेश का वेदन है, ऐसा कहा, तथा नरक में सम्यग्दृष्टि को जो आकुलता और दु:ख है, उसकी मुख्यता न लेते हुए, उस समय स्वरूपाचरणदशा का जो परम सुख उसको प्रगट हुआ है, वह बतलाते हुए उसे सुखरस की गटागटी कही—ऐसा समझना। सम्यग्दृष्टि को भी जितना पुण्यफल के उपभोग का भाव है, उतना दु:ख है और जितनी रागरहित परिणति है, उतना सुख है। चाहे वह स्वर्ग में हो या नरक में।

(१००) **प्रश्न**—शुद्ध आत्मस्वभाव को प्रथम पहिचानना चाहिये या आदर (धारण) करना चाहिये ?

उत्तर—शुद्ध आत्मस्वभाव का ज्ञान तथा आदर दोनों एक साथ ही होते हैं। जहाँ उसका आदर किया, वहाँ ज्ञान उस ओर उन्मुख होता ही है; तथा जहाँ ज्ञान उस ओर उन्मुख हुआ, वहाँ उसका आदर होता ही है। शुद्धात्मा को पहिचाने बिना उसका आदर कहाँ से हो सकता है ? तथा शुद्धात्मा का आदर किये बिना ज्ञान उस ओर उन्मुख कहाँ से होगा ? इसप्रकार शुद्धात्मा का ज्ञान तथा आदर दोनों एकसाथ ही होते हैं। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ ही हैं।

शुद्धात्मा का अनादर करके उसका ज्ञान नहीं हो सकता; उसीप्रकार शुद्धात्मा का अज्ञान रखकर उसका आदर नहीं हो सकता। शुद्धात्मा का ज्ञान उसके आदरपूर्वक ही हो सकता है; तथा शुद्धात्मा का आदर उसके ज्ञानपूर्वक ही हो सकता है।

* * *

संतों की बात छोटी और सच; स्व में बस और पर से हट।

(इस छोटी बात को एक बार और पढ़िये)

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक : ३६] [अंक २७५ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

धर्मी अंतरात्मा जानता है कि मैं ज्ञान और आनंदस्वरूप हूँ, यह जड़ शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर के नाश से मेरा नाश नहीं है। जिसप्रकार शरीर का वस्त्र के साथ एकत्व-संबंध नहीं है, उसीप्रकार आत्मा को भी शरीर के साथ एकता का संबंध नहीं है। जिसप्रकार वस्त्र के फटने से शरीर नहीं फटता, तथा वस्त्र नवीन आने से शरीर नया नहीं होता, अथवा वस्त्र के रंग से शरीर रंगीन नहीं होता; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा के लिये यह शरीर तो ऊपरी वस्त्र समान है; उस शरीर की जीर्णता से आत्मा जीर्ण नहीं होता; शरीर नवीन होने से आत्मा नया नहीं होता; शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता; अथवा शरीर के रंग से आत्मा कहीं काले-लाल रंग का नहीं होता; आत्मा तो शरीर से पृथक् ही रहता है। शरीर छूट जाता है परंतु ज्ञान कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता; इसलिये जो पृथक् हो जाये, वह आत्मा का शरीर नहीं है; यह जड़ शरीर आत्मा का नहीं है। आत्मा चैतन्यशरीरी है, वह चैतन्यशरीर आत्मा से कभी पृथक् नहीं होता। ऐसी भिन्नता की प्रतीति में धर्मी को शरीर के वियोग में दुःख नहीं होता अर्थात् मरण का प्रसंग आने से 'मैं मर जाऊँगा'—ऐसा मृत्यु का भय उसे नहीं होता; वह जानता है कि मेरा चैतन्यशरीर अविनाशी है; वज्रपात होने पर भी मेरे चैतन्यशरीर का विनाश नहीं होता; मेरा चैतन्यशरीर अवध्य है; किसी के द्वारा उसका घात नहीं हो सकता—ऐसी दृष्टि में धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं है। जगत को मृत्यु का भय है, परंतु ज्ञानी को तो चैतन्य के लक्ष से समाधि ही है.... उसके तो मानों आनंद का महोत्सव होता है। जिसने अपने जीवन में भिन्न चैतन्य की भावना भायी होगी, उसे मृत्युकाल में उसका फल अवश्य मिलेगा; परंतु जिसने जीवन में चैतन्य की चिंता ही नहीं की, शरीर को ही आत्मा मानकर विषय-कषायों का पोषण किया है,

वह शरीर छूटने के अवसर पर किसके बल से समाधि रखेगा ? अज्ञानी तो असमाधिरूप से शरीर छोड़ता है। ज्ञानी ने तो पहले से ही शरीर को अपने से भिन्न जाना है, इसलिये चैतन्य के लक्ष से समाधिमरणपूर्वक उसका शरीर छूटता है। एकबार भी चैतन्य के लक्ष से शरीर को छोड़े तो पुनः शरीर धारण न करना पड़े; एक-दो भव में ही मुक्ति हो जाये।

देखो, ज्ञानी या अज्ञानी दोनों का शरीर तो छूटता ही है, परंतु ज्ञानी ने शरीर को भिन्न जाना है; इसलिये उसका शरीर चैतन्य के लक्षपूर्वक छूटता है, उसे मृत्यु का भय नहीं है; और अज्ञानी ने तो शरीर को आत्मारूप ही माना है, इसलिये शरीर के लक्ष से उसका शरीर छूटता है; वहाँ 'मेरी मृत्यु हो जायेगी'—ऐसा भय उसे बना रहता है। आत्मस्वभाव के अनुभव बिना मृत्यु का भय कदापि दूर नहीं होता।

लोग नीति आदि के लिये भी शरीर छोड़ देते हैं। जिसके माँस-भक्षण आदि का त्याग है—ऐसा आर्य मनुष्य, शरीर छूट जाये, तथापि माँस-भक्षण नहीं करता। कभी कोई ऐसा समय आ जाये कि कोई दुष्ट मनुष्य उसे पकड़कर कहे कि तू माँस-भक्षण कर, नहीं तो मैं तेरे शरीर के टुकड़े कर डालूँगा; तो वहाँ वह आर्य मनुष्य क्या करेगा ?—शरीर छोड़ देगा परंतु माँस-भक्षण के परिणाम कदापि नहीं करेगा। उसीप्रकार जो ब्रह्मचारी है, वह भले ही शरीर छूट जाये परन्तु ब्रह्मचर्य को नहीं छोड़ेगा। इसप्रकार हिंसा, अब्रह्म आदि अनीति को छोड़ने के लिये शरीर को भी छोड़ देते हैं, तथापि खेद नहीं होता। यदि खेद हो तो उसने वास्तव में हिंसादि को नहीं छोड़ा है। शरीर छूटते हुए भी खेद न हो, ऐसा कब होता है ?—कि शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष में लिया हो, तभी शरीर को छोड़ सकता है। जो शरीर को ही अपना मानता है, वह शरीर को बिना खेद नहीं छोड़ सकता। इसप्रकार शरीर और आत्मा की भिन्नता के भेदज्ञानपूर्वक ही शरीर का ममत्व छूट सकता है और वीतरागभावरूप समाधि हो सकती है। समाधि अर्थात् वीतरागी आत्मशांति, उसका मूल भेदज्ञान है। पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप ममता हो, वहाँ स्व में एकाग्रतारूप समाधि नहीं होती; इसलिये आचार्यदेव ने बारम्बार भेदज्ञान की भावना दृढ़ करायी है।

स्वयं जिसमें उपयोग लगाये उसमें एकाग्रता कर सकता है।

देखो, राजा रावण जैनधर्मी था; राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध में जब वह बहुरूपिणी विद्या साधता है, तब कोई देव आकर उसे डिगाना चाहता है; वहाँ मायाजाल से ऐसा दृश्य खड़ा

करता है कि रावण के सामने उसके पिता को मार डालता है... और रावण की माता रुदन करती है कि—अरे बेटा रावण! तुझ जैसे पुत्र के होते हुए यह देव तेरे पिता को मार डाले? फिर रावण के शरीर पर बड़े-बड़े साँप और बिच्छू चढ़ते हैं... तथापि रावण ध्यान से चलायमान नहीं होता और अंत में विद्या साध लेता है। विद्या साधने के लिये ध्यान की कितनी एकाग्रता है! देखो, साधारण लौकिक विद्या साधने के लिये ध्यान की इतनी दृढ़ता होनी चाहिये, तो फिर आत्मा को साधने के लिये कितनी दृढ़ता की आवश्यकता होगी? शास्त्रकार तो कहते हैं कि अहो! जैसी ध्यान की दृढ़ता यह विद्या साधने के लिये की, वैसी दृढ़ता यदि मोक्ष के लिये आत्मध्यान में की होती तो क्षण में वह आठों कर्मों को जलाकर केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त कर लेता।—इसप्रकार आत्मा में एकाग्रता के अभ्यास द्वारा परम समाधि होती है।

अहा! मुनि, संसार की ममता छोड़कर आत्मा में एकाग्रता द्वारा निजपद में झूलते हैं, उनको परम समाधि वर्तती है। सिंह-बाघ आकर भले ही शरीर को फाड़ रहा हो अथवा शांत होकर भक्तिपूर्वक देखता हो, परंतु मुनि को समताभावरूप समाधि है। सम्यग्दृष्टि को चैतन्यस्वभाव की जितनी वीतरागी दृष्टि हुई है, उतनी सम्यग्दर्शनरूप समाधि है, परंतु जितने राग-द्वेष हैं, उतनी असमाधि है, उतनी शांति लुटती है। अज्ञानी को तो वीतरागी समताभाव के परम सुख की खबर ही नहीं है, उसने तो समाधि-सुख का स्वाद ही नहीं लिया है।

अहा! मोक्ष की साधना करनेवाले, मुनियों की समाधि की क्या बात कहें! बड़े-बड़े राजकुमार भी मुनियों की ऐसी भक्ति करते हैं कि अहा! धन्य है आपका अवतार! आप मोक्ष को साध रहे हैं। तिष्ठ! तिष्ठ! कहकर आमंत्रित करते हैं और पाँव पोंछने के लिये दूसरा कोई वस्त्र न हो तो वे राजकुमार अपने उत्तम वस्त्र से उन मुनि के चरण पोंछते हैं। ऐसी तो भक्ति होती है! वे राजकुमार सम्यक्त्वी होते हैं। कुल पच्चीस वर्ष की उम्र... युवावस्था... तथापि वैराग्य के रंग में रँगे होते हैं... अहो! हम ऐसे मुनि होंगे... धन्य है मुनिदशा को!.... शरीर को स्वप्न में भी अपना नहीं मानते!

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे... वे अपने राजभंडार के रत्नों को तो पत्थर समझते थे और मुनियों के रत्नत्रय को महान पूज्य रत्न मानकर उनका आदर करते थे। योगी-मुनियों के अतीन्द्रिय आनंद के समक्ष विषय-भोगों को विषतुल्य मानते थे। 'भगवान पधारे हैं'—ऐसी भगवान के आगमन की बधाई माली ने आकर दी, तो राजचिह्न के सिवा करोड़ों के आभूषण

उतारकर माली को दे दिये... और तुरंत सिंहासन से उतरकर भगवान के सामने सात डग आगे बढ़कर नमस्कार किया... ऐसी तो भगवान के प्रति भक्ति और बहुमान था! वे श्रेणिक राजा भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। पहले मुनि की निंदा-विराधना के कारण नरकायु का बंध होने से वर्तमान में नरक में हैं; तथापि वहाँ भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व की प्रतीति वर्तती है। यह शरीर मैं नहीं हूँ; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा भेदज्ञान वहाँ भी उनको वर्त रहा है; और उतनी समाधि वहाँ नरक में भी है।

इसप्रकार अंतरात्मा अपने आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानकर उसी की भावना भाता है; इसलिये मृत्युकाल में भी आत्मभावनापूर्वक उसे समाधि ही रहती है ॥६३-६६॥

— पद —

आज हम समकित साधन पाया ।टेक॥
भूल अनादि मोह में फंसकर जो भवताप सताया।
वह मिट गया प्राप्त होते ही समकित गुण की छाया ॥१ ।टेक॥
बारबार समरस बरसत है धुलता मल अधिकाया।
जो अनादि से लिपट गया था मोह रागरूप माया ॥२॥
निखर भूमि अब शुद्ध भई है निर्मल कंचन काया।
समकित बीज अकुंरित हो कर दिन-दिन बढ़त सवाया ॥३॥
निर्भय होय न भ्रम होता है, पर क्या करे पराया?
अजर अमर यह आतम मेरा निर्विकल्प सुख पाया ॥४॥
ऐसा निर्भय घर पाकर कोइ निकलत नहीं भगाया।
आप आप में लीन होयकर, 'मुन्ना' लाभ उठाया ॥५॥
आज हम समकित साधन पाया ।टेक॥

कारण अनुसार कार्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव यहाँ से महाविदेहक्षेत्र श्री सीमंधरभगवान के समवसरण में गये थे; यह बात अनेक प्रमाणों से साक्षात् सिद्ध हो चुकी है। उन्होंने विदेह में आठ दिन रहकर तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण करके तथा अपने आत्मा का साक्षात्कार करके स्वानुभव किया–यह बात उन्होंने नियमसार आदि परमागमों में दरशायी है।

यह आत्मा सर्व परभावों से रहित है और जैसे सिद्धभगवान हैं, वैसा ही यह आत्मा है। सिद्धभगवान को जैसे गुण व्यक्त हुए हैं, वैसे गुणों का सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है। सिद्धपद प्रगट होने के कारण स्वभाव प्रत्येक आत्मा में सदा त्रिकाल परिपूर्ण है। ऐसे कारणस्वभाव को लक्षगत करने से सम्यग्दर्शनादि कार्य प्रगट हो जाता है—शुद्धकारण का अनुसरण करने से शुद्ध कार्य प्रगट हो जाता है।

जिसे अपने ऐसे कारणस्वभाव की खबर नहीं है, उसे भी वह सिद्ध समान स्वभाव तो शक्तिरूप से विद्यमान ही है; परंतु पर्याय में उसे निर्मल कार्य प्रगट नहीं होता, इसलिये उसकी पर्याय में मलिनता–अशुद्धता–विकार है। उसके आश्रय की बुद्धि छुड़ाने के लिये आचार्यदेव समझाते हैं कि—हे भाई, जैसे सिद्धिगत जीव हैं, वैसा ही तू है; सिद्ध के आत्मा में जितना वैभव है, तुझमें भी उतना ही वैभव है, सिद्धसमान ही तू है–ऐसा लक्षगत करके तू अपने स्वभाव का आश्रय कर तो पर्याय में से तेरी अशुद्धता दूर हो जायेगी और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता प्रगट होगी... कारण अनुसार कार्य होता है; जीव जैसे कारण का अनुसरण करे, वैसा कार्य होता है। अपने शुद्ध स्वभाव का कारणरूप में अनुसरण करने से पर्याय में वैसा शुद्ध कार्य प्रगट हो जाता है।

स्वाध्याय की श्रेष्ठता

सर्वज्ञ–वीतराग कथित तत्त्वज्ञान, स्वात्मानुभव की प्राप्ति एवं निर्मलता हेतु आत्महित में सावधान बुद्धि द्वारा उचित शैली से स्वाध्याय करे।

सर्व व्रतों की अपेक्षा इस स्वाध्याय–व्रत को मूल माना है। तथा यह स्वाध्याय उत्तम तप है; क्योंकि सर्व व्रतों का स्वाध्याय आदि–मूल है। *(सि.सार, अ. ११, श्लोक २०)*

विविध वचनामृत

(लेखांक - १८)

(२३०) भूखे को अमृत मिले तो....

जिसप्रकार कई दिन के भूखे-प्यासे आदमी को रुचिकर स्वादिष्ट भोजन मिले तो वह कितनी रुचिपूर्वक उसे ग्रहण करेगा ?

उसीप्रकार अनंत-अनंत काल से भव-भ्रमण में भटककर मोह से आकुल-व्याकुल संतप्त जीव को सत्समागम और जिनवचनरूपी परम अमृत की प्राप्ति हुई... अमृत उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति के पश्चात् फिर मृत्यु न हो, सिद्धदशा हो। ऐसा जिनवचनरूप अमृत और श्रुतज्ञानरूपी अमृत मिले तो जिज्ञासु जीव कितनी उत्कंठापूर्वक उसका पान करेगा ?

जिज्ञासु कहता है कि अनाज और पानी मेरा सच्चा आहार नहीं है, मेरा सच्चा आहार तो अंतर के भावश्रुत के मंथनपूर्वक जिनवाणी का श्रवण-मनन-अनुभवन करना है।

(२३१) मुमुक्षु की जिम्मेवारी

हे जीव ! तू अपने स्वभाव को साधने की सच्ची जिम्मेवारी ले। संसार के बाहरी कामों की जिम्मेवारी अपने सिर से उतार दे। संसार में राष्ट्र के, परिवार के, शरीर के कार्यों की जिम्मेवारी तू अपनी मान रहा है, परंतु उस किसी भी कार्य की जिम्मेवारी तुझ पर नहीं है, वह कुछ भी तेरा कर्तव्य नहीं है। जगत के पदार्थों में होने योग्य कार्य अपने आप होते रहते हैं; तू व्यर्थ ही उनका जिम्मेवारी (कर्तृत्व का अभिमान) सिर पर लेकर आत्मा की सच्ची जिम्मेवारी (ज्ञाताभाव) को भूल जाता है। इसलिये जगत के कार्यों की चिन्ता छोड़कर उनसे उदासीन होकर, अपने निजस्वभाव के कार्य को संभाल। सांसारिक कार्यों को छोड़-छोड़कर अनंत जीव सिद्धिधाम में पहुँच गये, तथापि जगत का कोई कार्य रुका नहीं रहा; और अज्ञानी ने अनंतकाल सांसारिक कार्यों में बिता दिया, तथापि संसार के कार्य पूरे नहीं हुए। इसलिये हे भाई ! तू अन्य कार्यों की जिम्मेवारी का बोझ उतारकर अपने आत्महित के कार्य को संभाल... यही मुमुक्षु की बड़ी से बड़ी जिम्मेवारी है।

(२३२) आत्मसाधना का मूल भेदविज्ञान

आत्मा को पर से भिन्न जाने बिना परवस्तु की ओर का अहंभाव या ममत्व दूर नहीं होता। जिसे अपना मानता हो, उसका ममत्व क्यों छोड़ेगा ? पर का ममत्व छूटे बिना निजस्वरूप की साधना नहीं हो सकती। इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान, वह आत्म-साधना का मूल कारण है।

(२३३) आत्मार्थी का परिणमन

जो जीव आत्मार्थी हुआ, उसका परिणमन आत्मोन्मुख हुआ, इसलिये संसार और संसार की ओर के भावों से उसकी वृत्ति संकुचित होने लगी। अपने ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण आत्मा का प्रेम करके अन्य समस्त भावों का प्रेम उसने छोड़ा है... बाह्य भाव अनंत काल किये; अब उसका परिणमन अंतर्मुख होता है... चैतन्य-प्रेम की धारा को अंतरस्वरूप में ढलने से अब कोई रोक नहीं सकता।

(२३४) एक क्षण में अनंत कमाई

एक सेकेण्ड में लाखों-करोड़ों रुपये प्राप्त होने का अवसर आये तो पैसे का प्रेमी मनुष्य कितनी रुचिपूर्वक उद्यम करता है ? तो आत्मा के प्रेमी, हे जिज्ञासु भाई ! इस एक जीवन में अनंत जन्म-मरण को मिटा देने का सुअवसर तुझे प्राप्त हुआ है; इसलिये एक क्षण भी विलम्ब किये बिना सर्व प्रकार से तू आत्मा को समझने का उद्यम कर और उसकी आराधना कर... एक भव आत्मा की आराधना में बिताने से तेरे अनंत भव के दु:ख दूर हो जायेंगे और तुझे अनंत मोक्षसुख की प्राप्ति होगी।

(२३५) वह भले सोए....

जिसे मृत्यु के साथ मित्रता हो अथवा जो मृत्यु से दूर भाग सकता हो, अथवा जिसे ऐसा निश्चय हो कि—'मेरी मृत्यु कभी नहीं हो सकती', वह भले ही सुख से सोए ! परंतु यह शरीर का संयोग क्षणिक है, एक बार अवश्य मृत्यु होनेवाली है-ऐसा निर्णय जिन्होंने किया है, वे प्राणी सुख से सोने में क्यों अपना काल व्यर्थ गँवाएँगे ? वे तो जीवन के क्षण-क्षण में आत्महित के लिये जागृत रहते हैं; सोते समय स्वप्न में भी उन्हें आत्महित के विचार आते हैं।

(२३६) जिनशासन के संत

जिनशासन के आराधक जीव भवभ्रमण से थककर जगत से उदास हुए हैं और आत्मिक सुख के पिपासु होकर उसकी साधना में कटिबद्ध हुए हैं। जिनशासन के संतों की

दशा जगत से निराली है। जिनशासन जिसने स्वीकार किया, उसने अपनी मुक्ति को स्वीकार किया है, वह मोक्षमार्ग में आया है।

(२३७) ज्ञान

'ज्ञान' समस्त परिणामों से पृथक् रहकर जानता है... आनंदादि निजपरिणामों में वह तन्मय होता है। इसप्रकार स्व को तन्मय होकर जानता है, पर को पृथक् रहकर जानता है।

(२३८) अनेकांत की मूर्ति

* अनेकांतमय आत्मवस्तु की जो श्रद्धा करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

* अनेकांतमय आत्मवस्तु को जो जानते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी हैं।

* अनेकांतमय आत्मवस्तु में लीन होकर जो उसका अनुभव करते हैं, वे सम्यक्चारित्री हैं।

—इसप्रकार अनेकांतमय आत्मवस्तु की श्रद्धा, ज्ञान, और अनुभव करनेवाले जीव साक्षात् ज्ञानस्वरूप होते हैं अर्थात् मोक्षदशारूप परिणमित होते हैं, और वे स्वयं 'अनेकांत की मूर्ति' हैं।

(२३९) शेर के पंजे में हिरन

वन में क्रूर सिंह के पंजे में फँसा हुआ हिरन मृत्यु से बचने के लिये कैसा आतुर एवं प्रयत्नशील होता है ? मात्र एक ही बार की मृत्यु से बचने के लिये वह कितना छटपटाता है और प्रयत्न करता है ? तो यह जीवरूपी हिरन अज्ञानरूपी सिंह के पंजे में फँसकर अनंत जन्म-मरण में छटपटा रहा है; उस अनंत जन्म-मरणरूपी सिंह के मुँह में से इस आत्मारूपी हिरन को छुड़ाने के लिये कितनी तीव्र उत्कंठा एवं लालसा पूर्वक प्रयत्न होना चाहिये !!

सिंह के मुँह में फँसे हुए हिरन को क्या नींद आयेगी ? क्या उसे हरा घास चरने की इच्छा होगी ? क्या उसे उस समय अपनी हिरनी या बच्चे याद आयेंगे ? जीवन की आशा में वह सब कुछ भूल जाता है। उसीप्रकार आत्मजिज्ञासु को भी समझना चाहिये। एक आत्मजीवन साधने की धुन में अन्य सभी विषयों में से उसकी वृत्ति हट जाती है।

मग्न, नग्न और भग्न

चैतन्य में मग्न वे सच्च नग्न,
शेष सब मोक्षमार्ग से भग्न।

मोक्षमंदिर का उद्घाटन करके धर्मात्मा उसमें शुद्धात्मारूप समयसार की स्थापना करते हैं।

❀ आत्मा का हित हो, ऐसा इष्ट उपदेश श्रीगुरु देते हैं।

❀ जो जीव स्वयं आत्मा के सत्सुख का अभिलाषी न हो, और स्वयं अंतरआत्मशोधन में न वर्ते, तो गुरु का उपदेश उसे क्या करेगा ?

❀ अरे, पर में सुख की कल्पना करके वहाँ उछल-कूछ करने में अनंतकाल बिता दिया, परंतु सुख की प्राप्ति नहीं हुई। मेरा सुख तो मुझमे हैं, इसलिये अपने स्वरूपोन्मुख होकर ढूँढूँ—इसप्रकार जिसे स्व के सत्सुख की अभिलाषा हुई है और पर में सुख की कल्पना छूट गई है—ऐसा जीव वैरागी होकर बारंबार स्वभाव-सुख की भावना करता है और इसप्रकार स्वयं भावना द्वारा आत्मा का परम इष्ट-सुख प्राप्त करता है। इसलिये वह परमार्थतः स्वयं अपना मार्गदर्शक-गुरु है।

❀ प्रथम तो जीव स्वयं मोक्षसुख का अभिलाषी हो, उसका सच्चा उपाय जाने और अंतर की भावनापूर्वक उस उपाय के प्रयत्न में वर्ते, तब आत्मा स्वयं अपने को मोक्ष के मार्ग में ले जानेवाला गुरु है। स्वयं मार्ग न जाने और सुख के मार्ग में अपने आत्मा को स्वयं न ले जाये तो दूसरे गुरु उसे क्या कर सकते हैं ?

❀ गुरु ने तो मार्ग का उपदेश दिया, परंतु उस मार्ग का अनुसरण कौन करेगा ? जीव स्वयं प्रयत्नपूर्वक उस मार्ग का अनुसरण करेगा, तब वह सुख प्राप्त करेगा और तभी दूसरे गुरु उसे निमित्त कहलायेंगे। इसप्रकार परमार्थ से तो आत्मा स्वयं ही अपने को सुखमार्ग में ले जानेवाला गुरु है। दूसरे गुरु इसे मोक्षमार्ग में ले जाते हैं—ऐसा कहना वह तो व्यवहार है, निमित्तमात्र है-कैसा ? कि गति में धर्मास्तिकाय के समान।

❀ जो आत्मा के सत्सुख का अभिलाषी हो, उसके अंतर में जगत संबंधी अन्य अभिलाषा नहीं होती; जगत के सन्मान की स्पृहा उसे नहीं होती। एक धर्मात्मा से किसी ने कहा कि—'आपको अनेक भव का ज्ञान है, आप में इतनी पवित्रता है... यदि इसकी लोक में किंचित् प्रसिद्ध हो तो... ?' वे धर्मात्मा सहजभाव से बोले—'जगत में प्रसिद्ध होने

का क्या काम है ?' अहा, देखो यह वैराग्य!! अरे, अपना सुख तो अपने पास है और अपने प्रयत्न से ही उसकी प्राप्ति होती है। बाह्य में सुख है नहीं और बाह्यप्रयत्न से उसकी प्राप्ति भी नहीं होती... अंतर में सुख का उपाय वर्त रहा है; वहाँ जगत को दिखाने का क्या काम है ? अपना कार्य अपने में हो रहा है। देखो तो सही, निस्पृहता!! अपने में समा जाने की भावना है।

❀ अहा, जिसे अपने आत्मा के मोक्षसुख की ही उत्कंठा है, वह उसका उपाय जानकर उसके प्रयत्न में वर्तता है और उसके मोक्षमंदिर का उद्घाटन होता है; उसके आत्मा में शुद्धात्मारूप समयसार की स्थापना होती है। देखो, आज स्वाध्याय-मंदिर का उद्घाटन और उसमें समयसारजी की स्थापना का दिवस है। यहाँ धर्मात्मा मोक्षमार्ग के मंदिर का उद्घाटन करके आत्मा में शुद्ध समयसार की स्थापना करता है—उसकी यह बात है।

❀ सुख का अभिलाषी होकर उसका मार्ग आत्मा स्वयं ढूँढ़ता है और तब दूसरे धर्मात्मा-गुरु तो गति में धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र हैं। जो स्वयं अज्ञानी है, उसे अन्य के द्वारा ज्ञानी नहीं किया जा सकता। वह स्वयं जागृत होकर मोक्षमार्ग में गमन करे, तब धर्मात्मा धर्मास्तिकाय की भाँति उसे उदासीन निमित्त है, परंतु जो जीव स्वयं मोक्षमार्ग में गमन नहीं करता, उसे कहीं गुरु जबरन ज्ञान नहीं करा सकते।—जिसप्रकार स्थिर-ठहरे हुए पदार्थ को धर्मास्तिकाय कहीं जबरन गति नहीं कराता उसीप्रकार।

❀ जो जीव जगत की स्पृहा छोड़कर आत्मसुख का अभिलाषी होकर स्वभावोन्मुख उद्यम द्वारा मोक्षसुख साधने के लिये निकला है, उसे गुरु का उपदेश निमित्त है। ऐसे गुरु-धर्मात्माओं के प्रति उसे भक्ति-बहुमान-विनय आदि का भाव आये बिना नहीं रहता; परंतु कार्य की उत्पत्ति तो अपने उपादान के स्वाभाविक गुण द्वारा अपने प्रयत्न से ही हुई है; योग्यता रहित जीव को लाख गुरुओं के उपदेश द्वारा भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करायी जा सकती। योग्यतावान जीव स्वत: प्रेरणा से जब ज्ञानादि में प्रवर्तता है, तब गुरु का उपदेश तो मात्र निमित्त (धर्मास्तिकायवत्) है।

❀ गति करने में जिसप्रकार धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में गुरु निमित्त है-ऐसा कहकर उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता बतलायी है। भाई, स्वत: अज्ञानी जीव को किसी अन्य के द्वारा ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता, और स्वत: ज्ञानी जीव को जगत

में दूसरा कोई अज्ञानी नहीं बना सकता—जीव स्वयं अपनी योग्यता के बल से ही ज्ञानी या अज्ञानी होता है; उसमें अन्य तो मात्र तटस्थ निमित्त हैं।

❀ परंतु जिसप्रकार गतिवान वस्तु को धर्मास्तिकाय ही निमित्त होता है, विरुद्ध निमित्त नहीं होता; उसीप्रकार मोक्षसुखरूप परिणमित होनेवाले को ज्ञानी धर्मात्मा गुरु के प्रति विनय-भक्ति-बहुमान होता है, और वैसा ही निमित्त उसे होता है, विरुद्ध निमित्त नहीं होता; तथापि निमित्त की आधीनता नहीं है। जिसप्रकार गति के समय निमित्तरूप से धर्मास्तिकाय होता ही है, कहीं उसे बुलाने नहीं जाना पड़ता कि—'मुझे गति करना है, इसलिये तू निमित्त होने आ।' उसीप्रकार मोक्षसुख का अभिलाषी जीव जब अपनी योग्यता द्वारा प्रयत्नपूर्वक मोक्षमार्ग में गमन करता है, तब धर्मात्मा गुरुओं का इष्ट-उपदेश उसे निमित्तरूप से होता है, परंतु उसे ढूँढ़ने के लिये रुकना नहीं पड़ता। उपादान-निमित्त की संधि सहजरूप से मिल ही जाती है। इसलिये हे जीव! तू जागकर अपने सुख का उद्यम कर... ऐसा इष्ट-उपदेश है।

❀ **प्रश्न—योग्यता से ही कार्य होता है और दूसरा उसमें कुछ नहीं करता—तो क्या निमित्त का निषेध हो गया?**

उत्तर— प्रकृत कार्य होने में वस्तु की योग्यता ही कार्यकारी है, वहाँ अन्य गुरु या शत्रु तो बाह्य निमित्तमात्र हैं; जिसप्रकार धर्मास्तिकाय गति में उदासीन निमित्त है, उसीप्रकार अन्य पदार्थ मात्र निमित्त हैं। इसलिये निमित्त का निषेध नहीं हो जाता परंतु वस्तुस्थिति जैसी है, वैसी रहती है। निमित्तरूप से निमित्त होने पर प्रकृत कार्य में (हित-अहित आदि में) वह धर्मास्तिकायवत् अकिंचित्कर है। जिसप्रकार गति में धर्मास्तिकाय निमित्त होने पर भी वह अकिंचित्कर है। उसीप्रकार सर्व निमित्त अकिंचित्कर हैं। हित में गुरु निमित्त या अहित में शत्रु निमित्त-वे दोनों निमित्त अकिंचित्कर हैं; जीवों को हित-अहितरूप प्रवृत्ति अपनी योग्यता के बल से होती है। ऐसी स्वतंत्रता का उपदेश, वही इष्ट-उपदेश है; हित-अहित में जीव की पराधीनता बतलाये, वह उपदेश इष्ट नहीं है-सत्य नहीं है-हितकर नहीं है।

(इष्टोपदेश, गाथा ३४-३५ के प्रवचन से)

सत्पुरुष एक भव के अल्प सुख के लिये अनंत भव का अनंत दुःख न बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। (—श्रीमद् राजचंद्र)

जिनशासन

[राजकोट में 'समयसार' गाथा-१५ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन]

(वीर संवत् २४९४ फाल्गुन शुक्ला ४ से ९ तक)

प्रात:काल पूज्य गुरुदेव ने मंगलाचरण में कहा कि धर्मजिनेश्वर को रंगसहित—उत्साहपूर्वक—गाने के लिये तत्पर हुआ हूँ, उसमें भंग न पड़े। धर्म अर्थात् ज्ञान-आनंदादि अनंतस्वभाव; उन्हें धारण करनेवाला आत्मा, सो धर्मजिनेश्वर है... उसकी अखंड आराधनाकरने के लिये जागृत हुआ, उसमें अब भंग न पड़े। वे धर्म केवलज्ञानादिरूप से जिनको प्रगट हुए हैं, वे धर्मजिनेश्वर हैं... अथवा सर्व अरिहंत वे धर्मजिनेश्वर हैं... उनकी आराधना में अब भंग न पड़े। पर्याय है, वह द्रव्य को भजती है—उसका स्तवन करती है; उसमें (द्रव्य-पर्याय के बीच) कभी भंग न पड़े... अर्थात् द्रव्य-पर्याय की अखंडता से केवलज्ञान होगा—वह महान मंगल है।

यह समयसार की १५वीं गाथा है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा और शुद्ध आत्मा, वह जिनशासन है; शुद्ध आत्मा के अनुभव बिना जिनशासन की खबर नहीं पड़ती। यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान में जिस शुद्धात्मा की अनुभूति हुई, उसका वर्णन इस १५वीं गाथा में है। शुद्ध आत्मा के अनुभव से पवित्र आनंददशा हुई, वह जिनशासन है।

जिन सोही है आतमा, अन्य होइ सो कर्म;
कर्म कटे सो जिनवचन, तत्त्वज्ञानी का मर्म।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

आत्मा के स्वभाव की बड़ी महिमा है, वह पहले लक्षगत होना चाहिये। ऐसे आत्मा के अनुभव बिना सारी दुनिया दु:खी है। जिसे शुद्ध आत्मा की खबर नहीं है और राग-द्वेष-पुण्य-पापादि में सुख मान रहे हैं, वे तो सब आकुलतारूपी दु:ख के पहाड़ में जल रहे हैं। आत्मा तो परम शांतिरूप आनंद का पर्वत है। अनंत सर्वज्ञ परमेश्वरों ने ऐसे आत्मा को प्रगट किया है। जगत में सर्वज्ञ अनादिकाल से सदैव हैं और नये-नये होते ही रहते हैं। तीन काल को जाननेवाले ऐसे त्रिकालज्ञ का तीन काल में कभी विरह नहीं होता। वर्तमान में विदेहक्षेत्र में

सीमंधर भगवान आदि लाखों केवली भगवंत विराजमान हैं और दिव्यध्वनि द्वारा जिनशासन का उपदेश दे रहे हैं। उस जिनशासन में कैसा आत्मा कहा है, उसका इस समयसार की १५वीं गाथा में वर्णन है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥
अनबद्धस्पृष्ट अनन्य जो अविशेष देखे आत्मा को,
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य अविशेष तथा नियत और असंयुक्त देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है—कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

''जो यह अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त ऐसे पाँच भावोंस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है...''

पहले १४वीं गाथा में अबद्धस्पृष्ट आदि पाँच विशेषणों से शुद्ध आत्मा बतलाया था; तथा शुद्धनय द्वारा ऐसे शुद्ध आत्मा को देखना, सो सम्यग्दर्शन है-ऐसा कहा था; वहाँ पाँच विशेषण विस्तार से कहे थे—

(१) आत्मा अबद्धस्पृष्ट है:—अर्थात् जिसप्रकार पानी के संयोग में भी उससे अलिप्त रहने का कमल का स्वभाव है; उसीप्रकार पर्यायदृष्टि से तथा संयोगदृष्टि से देखने पर कर्म का संबंध होने पर भी उससे अलिप्त-असंयोगी रहने का आत्मा का स्वभाव है।—इसप्रकार परसंयोग रहित शुद्ध आत्मद्रव्य को देखना तथा अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन और जिनशासन है।

शरीर, कर्म आदि का संयोग होने पर भी आत्मा उन शरीर, कर्मादिरूप से नहीं है, परंतु अपने ज्ञानादि स्वभावरूप से ही विद्यमान है।—ऐसे आत्मा को परसंयोग से भिन्न शुद्धस्वरूप से देखना, सो सम्यग्दर्शन है; वह आनंद की अनुभूति है और वह जिनशासन है।

अरे, सम्यग्दर्शन के बिना जीव ने अनंत बार नरक के दु:ख सहन किये हैं और उनसे भी असंख्यगुने स्वर्ग के अवतार लिये हैं; वहाँ भी अज्ञान के कारण दु:ख ही भोगा है परंतु शुद्ध आत्मा का अनुभव कभी एक क्षण भी नहीं किया; उसकी रुचि नहीं की और उसका यथार्थ श्रवण भी नहीं किया।

(२) आत्मा अनन्य है:—जैसे अनेक प्रकार के आकारों में भी यदि मिट्टी को उसके स्वभाव से देखा जाये तो मिट्टी तो एकरूप मिट्टी ही है, उसीप्रकार चार गति संबंधी अनेक प्रकार की अवस्थाएँ होने पर भी, आत्मा को उसके स्वभाव से देखा जाये तो वह एकरूप ज्ञानस्वभाव से ही विद्यमान है।—ऐसे आत्मा का अनुभव करे, तब सम्यग्दर्शन तथा धर्म होता है। वह जीव जैनशासन में आया है अर्थात् उसकी जो अनुभवदशा है, वही जैनशासन है। अनुभूति, वह जैनशासन है, अथवा अभेदरूप आत्मा, वह जैनशासन है।

(३) आत्मा नियत है:—जिसप्रकार तरंगों में न्यूनाधिकता होने पर भी एकरूप पानी के समूहरूप जो समुद्र है, उसे देखा जाये तो वह समुद्र एकरूप अवस्थित है; उसीप्रकार यह चैतन्य-समुद्र आत्मा-यद्यपि उसकी अवस्था में हानिवृद्धिरूप परिणमन है, परंतु जो चैतन्यदल एकरूप है, उसे देखा जाये तो आत्मा एकरूप अवस्थित है; ऐसा एकरूप नियतस्वभाव है। ऐसे स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेने से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होता है। (यह नियत स्वभाव कहकर पर्यायभेद निकाल दिये हैं।)

(४) आत्मा अविशेष है:—जिसप्रकार पीलापन, वजन आदि अनेक भाव होने पर भी उसके भेदों को न देखकर सर्वभावों से अभेद सुवर्ण को देखें तो सुवर्ण तो एकरूप सुवर्ण ही है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में अनंत गुण होने पर भी उसमें भेद को न देखकर अनंत गुणों से अभेद ऐसे एकरूप आत्मा को देखने-अनुभव करने से वह एकरूप अनुभव में आता है; वह सम्यग्दर्शन है। गुणभेदरूप विशेषों को न देखकर उनसे रहित ऐसे अविशेष आत्मा को अभेदरूप से अनुभव में लेना, वह जैनशासन अर्थात् वीतराग का मार्ग है। (यह अविशेष स्वभाव कहकर गुणभेद निकाल दिये।)

(५) आत्मा असंयुक्त है:—जिसप्रकार पर्यायदृष्टि से पानी उष्णता-संयुक्त होने पर भी उसके शीतलस्वभाव में उष्णता का प्रवेश नहीं है; उसीप्रकार पर्यायदृष्टि से आत्मा में रागादि विभाव वर्तते होने पर भी, अकेले बोधस्वरूप आत्मा के स्वभाव को लक्ष में लेकर अनुभव करें तो आत्मा उन रागादि के सम्पर्क-रहित शुद्ध आनंदस्वरूप अनुभव में आता है—ऐसा अनुभव वह धर्म है, वह जैनशासन है।

देखो, शुद्ध आत्मा का ऐसा स्वरूप है; उसका अनुभव, सो जिनशासन है।

—इन पाँच बोलों द्वारा १४वीं गाथा में शुद्ध आत्मा का वर्णन किया है; वे यहाँ

भूमिकारूप से संक्षेप में बतलाये; क्योंकि उनके साथ इस १५वीं गाथा की संधि है। जो पाँच भाव कहे, उन पाँच भावोंस्वरूप शुद्ध आत्मा की जो अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

आत्मा का जो शुद्ध-भूतार्थस्वभाव है, उसमें बंधन का या रागादि परभावों का अभाव है; इसलिये वह बंधन से रहित शुद्ध आत्मा भूतार्थदृष्टि द्वारा अनुभव में आता है... और ऐसी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है; वही शुद्धनय है; वही जिनशासन है।

शुद्ध आत्मा के अनुभव बिना अनादिकाल में जीव ने अन्य सब बहुत-कुछ किया है; परंतु वह कहीं जिनशासन नहीं है। जिनशासन तो अपूर्व है; अनादि से पर्याय में बंधनभाव वर्तता है, तथापि उससे रहित ऐसा अबंध शुद्ध आत्मा है; उसे शुद्धनय द्वारा अनुभव में लेना, सो जिनशासन है;—ऐसा जिनभगवान का उपदेश है।

पर के संगवाले—कर्मवाले अशुद्ध आत्मा का जो जीव अनादिकाल से अनुभव कर ही रहा है, परंतु उसे भगवान जिनशासन नहीं कहते, भगवान अशुद्धता के अनुभव का उपदेश नहीं देते, परंतु शुद्ध आत्मा के अनुभव का भगवान का उपदेश है और ऐसा अनुभव हो सकता है। भाई, जो तुझसे हो सकता है, उसी का उपदेश भगवान ने दिया है। भगवान स्वयं स्वानुभव से जैसे हुए, वैसा ही उपदेश उन्होंने दिया है और वैसा ही वस्तुस्वरूप है।—ऐसे आत्मा के अनुभव से आनंद होता है और दुःख दूर होता है।

आत्मा का अनुभव कहो, मोक्ष का मार्ग कहो, जैनदर्शन का रहस्य कहो, अथवा भगवान के उपदेश का सार कहो... वह बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस १५वीं गाथा में समझायी है।

वीतराग शासन का अर्थ क्या?—कि जिस रीति से वीतरागभाव उत्पन्न हो, ऐसा उपदेश वह वीतराग का शासन है। राग का सेवन तो जीव अनंत काल से कर रहा है, परंतु वीतरागभाव का सेवन अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभव उसने कभी नहीं किया, इसलिये वीतराग शासन का सेवन कभी नहीं किया। 'अनुभव' में भगवान के सर्व उपदेश का समावेश हो जाता है। मोक्षमार्ग आत्मा के अनुभव में है:—

अनुभव रत्न चिन्तरमणि, अनुभव है रसकूप;
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।

इस चैतन्यरत्न का मूल्यांकन शुद्धनय की दृष्टि से होता है। शुद्धनय द्वारा अनुभव करने से उसकी सच्ची महिमा ज्ञात होती है; राग के वेदन द्वारा चैतन्यरत्न का मूल्यांकन नहीं होता। जिसप्रकार हीरा-मोती के पानी की परख किसान की चादर का छोर छुआने से नहीं हो सकती, अंतर की झलक परखने के लिये तो जौहरी की दृष्टि होना चाहिये। उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा का मूल्यांकन बाह्यलक्षी स्थूल ज्ञान द्वारा नहीं हो सकता; उसे परखने के लिये तो अंतर्मुख शुद्धनयरूपी दृष्टि होना चाहिये। शुद्धात्मा को न जानता हो और दूसरा बाहरी ज्ञान हो-शास्त्र पढ़े; स्वाध्याय करे, तथापि उसमें सुख नहीं है; वह सच्चा ज्ञान नहीं है। सच्चा ज्ञान और सुख तो उसमें है कि जो ज्ञान अंतर्मुख होकर शुद्ध आत्मा को अनुभव में ले। उस ज्ञान में सकलश्रुत का रहस्य समा गया... क्योंकि सर्व ज्ञान का समावेश तो आत्मा में होता है, आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं है।

अंतर में अबद्धस्पृष्ट शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाली शुद्धनयरूप श्रुतज्ञानपर्याय, वह आत्मा ही है; क्योंकि आत्मा के साथ वह अभेद है; इसलिये उस पर्याय को अभेदरूप से आत्मा ही कहा और उसी को जिनशासन कहा। मात्र परलक्षी ज्ञान, वह आत्मा नहीं है, वह जिनशासन नहीं है; वह तो अज्ञान और अनात्मा है। स्वोन्मुख हुआ श्रुतज्ञान, वह आत्मा ही है; इसलिये स्वसन्मुख ज्ञान की अनुभूति, वह आत्मा की ही अनुभूति है। निर्मल ज्ञानपर्याय और आत्मा अभेद है; इसलिये शुद्ध आत्मा के अनुभव को समस्त श्रुतज्ञान का अनुभव कहा; समस्त श्रुतज्ञान अर्थात् जिनशासन भगवान की शिक्षा—उस सबका समावेश आत्मा के अनुभव में होता है।

✳ ✳ ✳

बारह अंगरूप जो जिनोपदेश, उसमें क्या कहा ?—कि शुद्ध आत्मा का अनुभव करने को कहा है; इसलिये शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाला ज्ञान, वह जिनशासन है।

आत्मा को कर्मसंबंधयुक्त अथवा राग-द्वेषयुक्त ही देखना, वह मिथ्यादृष्टि है; और कर्मसंबंधरहित शुद्ध एकरूप आत्मा को देखना, सो सम्यग्दृष्टि है, वह जिनशासन की दृष्टि है; जिनशासन अर्थात् भगवान का उपदेश, उसे समझना हो तो अंतर में शुद्ध आत्मा को देखना चाहिये—उसका अनुभव करना चाहिये। शुद्ध आत्मा को देखनेवाली निर्मल पर्याय को ही जिनशासन कहा है; क्योंकि शुद्ध आत्मा को देखनेवाली जो पर्याय है, वह उसमें अभेद होकर

देखती है; और इसप्रकार अभेद होकर शुद्ध आत्मा को देखने से विकल्प टूटते हैं तथा निर्विकल्प आनंद आता है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति के बिना विकल्प तोड़ना चाहे तो कभी टूट नहीं सकता, परंतु ध्येय की शून्यता हो जायेगी अर्थात् मूढ़ता हो जायेगी। विकल्प की शून्यता, वह तो उसकी नास्ति है; तो भाई! तू किसकी अस्ति में खड़ा रहकर विकल्प को तोड़ेगा?.... विकल्प के अभाव में शून्यता नहीं परंतु आनंद की अस्ति होना चाहिये। शुद्ध आत्मा है, उसकी पर्याय है, उसमें उत्पाद-व्यय हैं, अशुद्धता है, वह दूर होकर शुद्धता होती है—इसप्रकार सब बोलों के स्वीकार बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता और विकल्प नहीं टूटते।

जब सामान्य का आविर्भाव होता है अर्थात् ज्ञानपर्याय अंतरस्वभावोन्मुख होकर अनुभव करती है, तब उसमें विशेषरूप भेदों का लक्ष नहीं रहता, उसमें अभेदरूप एकता का ही अनुभव है; इसलिये उसे सामान्य का आविर्भाव कहा जाता है। निर्मल-पर्याय सामान्य के साथ अभेद होकर परिणमित हुई, वहाँ विशेष-ज्ञेयों के प्रति ज्ञान का लक्ष नहीं रहा; इसलिये उस पर्याय में विशेष का तिरोभाव हुआ और सामान्य का आविर्भाव हुआ—ऐसे ज्ञान का अनुभव सम्यग्दृष्टि को है, परंतु मिथ्यादृष्टि को ऐसे ज्ञान की खबर नहीं है, सच्ची समझ नहीं है, इसलिये सुख भी नहीं है।

समझ के बिना रे सुख नहीं जीव को...
रवि रवि करने से टले नहीं रजनी...
दीप से अँधेरा जाये... समझ से सुख हो,
ज्ञानसूर्य उगने पर मिटता है अँधेरा।

आत्मा स्वयं अपने स्वक्षेत्र में ही अपना अनुभव करता है; बाह्य में लक्ष को एकाग्र नहीं करना पड़ता। अंतर्मुख एकाग्रता से जैनशासन प्रगट होता है। शुद्धद्रव्य एवं शुद्धपर्याय—दोनों को जिनशासन कहा है। शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेने से उसमें शुद्धपर्याय भी आ ही जाती है; क्योंकि पर्याय अंतर में अभेद हुई, तब आनंद का अनुभव होता है। जैनशासन अर्थात् भावश्रुतज्ञान, वह मोक्षमार्ग है; शुद्ध आत्मा के अनुभव में समस्त श्रुतज्ञान का समावेश हो जाता है; वह रागरहित तथा इन्द्रियों के अवलंबन से रहित है; ज्ञानी तो अपने को सर्वतः एक ज्ञानरसरूप ही अनुभव करता है।

जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उससमय परज्ञेय का लक्ष नहीं है, स्वज्ञेयरूप शुद्धात्मा

पर ही ज्ञान का लक्ष है, इसलिये उस पर्याय में सामान्य ज्ञान का आविर्भाव (प्रागट्य) है और विशेष—ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव है। धर्मी अपने को परभावों से भिन्न ज्ञानमात्रभावरूप अनुभव करता है और अज्ञानी अपने को रागयुक्त-बंधनयुक्त देखता है, परंतु उसी समय उससे भिन्न ज्ञानमात्रभाव है, उसे अज्ञानी नहीं देखता, इसलिये उसका भिन्न ज्ञान ढँक गया है; उसे तो ज्ञेय के साथ एकाकार ज्ञान ही दिखता है, अकेला सामान्य ज्ञान उसे दिखायी नहीं देता, इसलिये उसे जैनशासन की या भगवान के उपदेश की खबर नहीं है, उसको भावश्रुतज्ञान प्रगट नहीं हुआ है।

जो ज्ञान स्वज्ञेयाकार परिणमित हुआ, उसे सामान्य ज्ञान का आविर्भाव कहा; क्योंकि उसमें परज्ञेयरूप विशेषों का तिरोभाव है। परज्ञेय को जानते समय भी धर्मी ज्ञान का तो ज्ञानरूप ही अनुभव करता है; परज्ञेय को जानते हुए उसके साथ ज्ञान एकाकार हो गया—ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। अज्ञानी तो पर को जानते हुए ज्ञान का पर के साथ एकाकार होना मानकर अपने ज्ञान को ढँक देता है, भिन्न ज्ञान का वह अनुभव नहीं करता।

शुद्ध जीवस्वरूप को भूलकर ज्ञेयों में ही जो लुब्ध है, ज्ञान को भूलकर ज्ञेयों में ही एकता मानता है, उसे आनंद के स्वादरूप जीवभाव प्रगट नहीं होता; उसका ज्ञान पर का ही अनुसरण करता है, इसलिये उसे चैतन्य का स्वाद नहीं आता।

खारे स्वादवाला तो नमक है; परंतु साग के साथ संयोग होने से गृद्धिवान लोग साग को ही खारा मानते हैं; उसीप्रकार ज्ञान के पृथक् स्वाद को लक्ष में न लेकर अज्ञानी ज्ञेयसंबंधयुक्त ही ज्ञान का अनुभव करते हैं; राग को जानने से ज्ञान ही मानों रागी हो गया, ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है, परंतु रागादि ज्ञेयों से ज्ञान की भिन्नता को वह नहीं जानता।

ज्ञेयों के संबंधरहित अकेले ज्ञान को ही देखना, वह सामान्य ज्ञान का आविर्भाव है; और विशेष आविर्भाव के समय भी अर्थात् परज्ञेय को जानते समय भी परमार्थ से तो ज्ञानी ज्ञान को ज्ञानरूप ही देखता है; पर को जानने से कहीं ज्ञान पररूप नहीं हो गया है। सामान्य का अनुभव करते समय जो ज्ञान अनुभव में आया, विशेष ज्ञानरूप से भी वही ज्ञान अनुभव में आता है। सामान्य और विशेष दोनों की एक जाति है, भिन्न जाति नहीं है।

सामान्य और विशेष दोनों में ज्ञान ही प्रकाशित हो रहा है। ज्ञेयों को जानते समय भी ज्ञान तो ज्ञान का ही है, ज्ञान कहीं ज्ञेयों का नहीं है। राग को जानते समय भी ज्ञान तो ज्ञान ही है,

ज्ञान कहीं राग नहीं है। ज्ञान और आनंद मेरा स्वाद है, रागादि वह मेरा स्वाद नहीं है;—ऐसी भिन्नता को भूलकर अज्ञानी ज्ञान को तथा रागादि ज्ञेयों को एकमेकरूप अनुभव करता है। जिसप्रकार हाथी को लड्डू और घास की भिन्नता का विवेक न होने से दोनों को मिलाकर—एकमेक करके खाता है; उसीप्रकार अज्ञानी ज्ञान और राग का मिश्ररूप से अनुभव करता है, इसलिये आनंद का स्वाद नहीं आता।

यहाँ तो कहते हैं कि—ऐसे भिन्न ज्ञान का जो अनुभव करता है, वह सकल-श्रुतरूप जिनशासन का अनुभव करता है; तथा जो विकल्प को ज्ञेय बनाकर उसमें अटक जाता है, वह जिनशासन का अनुभव नहीं करता अर्थात् भगवान के उपदेश को नहीं जानता, शुद्ध आत्मा को नहीं जानता, और आनंद को प्राप्त नहीं होता।

पर्याय जब सामान्य स्वभाव की ओर ढलती है, तब सामान्य का अविर्भाव हुआ कहा जाता है। पर्याय में जो अकेले पर को ही देखे और स्व को न देखे, तो उसे सामान्य का तिरोभाव हो गया है और विशेष का आविर्भाव हुआ है। यद्यपि विशेष के आविर्भाव के समय भी ज्ञानी तो ज्ञान को ज्ञानरूप ही देखता है, इसलिये वह विशेष के समय भी अपने को पर से भिन्न ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।—ऐसा अनुभव वह जिनशासन है।

जिनशासन का अर्थ क्या? अथवा भगवान का उपदेश कब समझा कहा जाता है? उसकी यह बात है। ज्ञानपर्याय राग से और परसंयोग से मुक्त होकर अपने चिदानंदस्वभाव में एकतारूप से परिणमित हुई, उसमें शुद्ध आत्मा की अनुभूति हुई; उसे जिनशासन कहा है। यही भगवान द्वारा उपदेशित सर्व श्रुत का सार है।

सामान्य और विशेष दोनों के आविर्भाव के समय भी ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान कहीं ज्ञेयरूप से प्रसिद्ध नहीं होता, परंतु ज्ञान तो ज्ञानरूप से ही प्रसिद्ध रहता है। ज्ञान की ऊर्ध्वता है। ज्ञेय ज्ञात होते हैं, वे ज्ञान के अस्तित्व को प्रसिद्ध करते हैं; ज्ञान की अस्ति बिना ज्ञेय को जाना किसने?—परज्ञेय को जानते समय भी ज्ञानी ज्ञान के अस्तित्व का तो ज्ञेय से भिन्न ही अनुभव करते हैं; इसलिये विशेष की प्रसिद्धि के समय भी (पर को जानते समय भी) ज्ञानी ज्ञान का ही स्व-रूप से अनुभव करते हैं। राग को जानते समय 'मैं राग हूँ'—ऐसा अनुभव ज्ञानी नहीं करते, परंतु 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा अनुभव करते हैं। ऐसी बात की प्रसिद्धि, ज्ञान की अनुभूति, वह जैनशासन है, उसमें राग का अभाव है।

ज्ञान को ज्ञानरूप से देखना, अनुभव करना और राग को उसमें एकमेक नहीं करना, वह भेदज्ञान की कला है। उसमें चैतन्य का वेदन है, उसमें चैतन्य की मुख्यता एवं ऊर्ध्वता है। ज्ञाता अपने अस्तित्व के बिना किसी को जान ले—ऐसा कभी हो नहीं सकता। ज्ञेय को जाना—ऐसा कहना और जाननेवाले ज्ञान की नास्ति कहना—यह कभी संभव नहीं है।

ज्ञान की मुख्यता कहो या ज्ञान की ज्ञानस्वरूप से प्रसिद्धि कहो... ज्ञान को ज्ञानरूप से प्रसिद्ध करना (अनुभव में लेना) तथा उसमें रागादि ज्ञेयों को एकमेक नहीं करना—ऐसे अनुभव का नाम जिनशासन है; उसमें शांति है, उसमें आनंद है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसी अनुभूतिवाले आत्मा को ही परमार्थ आत्मा कहते हैं। जिसप्रकार छट्ठी गाथा में कहा है कि—जो परद्रव्यों तथा परभावों से भिन्नरूप 'उपासने में आता है' वह आत्मा 'शुद्ध' कहलाता है, वह निर्मल पर्यायरूप से परिणमित हुआ है। उसीप्रकार यहाँ सामान्य ज्ञान की प्रसिद्धि है, अर्थात् जो ज्ञानपर्याय अंतर में ढल गई है, उसकी बात है। परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके अर्थात् उनसे भिन्न ज्ञान का अनुभव करने से जो मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, उसमें आत्मा सर्वत: विज्ञानघनरूप से अनुभव में आता है।—ऐसा अनुभव, सो धर्म है; उसमें अतीन्द्रिय आनंद है, वही मोक्षमार्ग तथा जिनशासन है। अनंत तीर्थंकर भगवंतों के उपदेश का यह सार है।

जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग

सोनगढ़ में प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी ग्रीष्मावकाश में जैन विद्यार्थियों के लिये धार्मिक शिक्षणवर्ग का आयोजन किया गया है। ज्येष्ठ कृष्णा १ सोमवार तारीख १३-५-६८ से प्रारंभ होकर ज्येष्ठ शुक्ला ५ तक २० दिन यह शिक्षणवर्ग चलेगा। जो विद्यार्थी शिक्षणवर्ग में सम्मिलित होना चाहते हों वे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के पते पर अपने आने की सूचना भिजवा दें।

ज्ञानमहिमा धारी स्वद्रव्य के संबंध से ही सुख है; पर के संबंध से दुःख है।

[परमात्मप्रकाश-प्रवचन]

असंख्य समय में उपयोगवाला श्रुतज्ञान—जो कि अभी रागयुक्त है तथापि—अनंत आकाश को अपने लक्ष में ले लेता है, यानी एक समय में भी उस ज्ञान में अनंत जानने की शक्ति है। जब रागयुक्त ज्ञान में भी इतनी शक्ति है, तब वह ज्ञान रागरहित होकर अप्रतिबंधरूप से परिणमित हो, उससमय तो उसके अचिंत्य सामर्थ्य की बात ही क्या? वह ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जान ले, उसमें क्या आश्चर्य!!

ऐसा महान केवलज्ञान, उसका स्वामी आत्मा वह महान पदार्थ है। जिसके एक ज्ञानगुण की एक समय की इतनी शक्ति, उसमें ऐसे तो अनंत गुण भरे हैं। ऐसे आत्मतत्त्व की महिमा आने से परिणति स्वोन्मुख होकर आनंद का अनुभव करता है।

अब, स्वसन्मुख होकर जो आत्मा आनंद का अनुभव करता है, उसे उसमें परद्रव्य का लक्ष नहीं है, उसे दुःख नहीं है; इसलिये परपदार्थ उसे दुःख के निमित्त भी नहीं होते, उसे तो पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है। जो निजस्वरूप से भ्रष्ट होकर, परद्रव्य का आश्रय करके राग-द्वेष-मोह से दुःखरूप परिणमित होता है, उसी को परद्रव्य दुःख का निमित्त है। दुःख का संबंध पर के साथ है, सुख का संबंध अपने आत्मा के साथ है। पर में उपयोग लगाने से दुःख होता है और आत्मा में उपयोग लगाने से सुख होता है।

अरे जीव! परद्रव्य का संबंध तुझे दुःख का कारण होता है और सुख तो स्वद्रव्य में एकाग्रता से ही होता है—ऐसा जानकर तू पर का संबंध छोड़ और निज शुद्धात्मा में एकाग्र होकर मोक्षमार्ग में स्थित हो।

दुःख का कारण क्या?

— तो कहते हैं कि-सुखस्वरूप स्वद्रव्य को भूलकर पर का संबंध ही दुःख का कारण है।

सुख का कारण क्या? सुख का उपाय क्या?

—तो कहते हैं कि—जिसमें सुख भरा है, ऐसे स्वद्रव्य में अंतर्मुख होकर पर का संबंध तोड़ना ही सुख का कारण एवं सुख का उपाय है।

स्वद्रव्याश्रित सुख कहो या स्वद्रव्याश्रित मोक्षमार्ग कहो; तथा परद्रव्याश्रित दुःख कहो या परद्रव्याश्रित बंधमार्ग कहो... लो, यह संक्षेप में बंध-मोक्ष का सिद्धांत है। जितना स्वस्वभाव का आश्रय, उतना मोक्षमार्ग; जितना परद्रव्य का आश्रय, उतना बंधन; जितना स्वाश्रयभाव, उतना सुख; जितना पराश्रयभाव, उतना दुःख; जितना स्वाश्रयभाव, उतनी शुद्धता; जितना पराश्रितभाव, उतनी अशुद्धता।

वाह, कितनी सीधी और स्पष्ट बात है!

—इसे समझकर हे जीव! मोक्ष के हेतु तू अंतर में अपने शुद्धात्मस्वभाव का संबंध कर... अंतर्मुख परिणति द्वारा उसकी भावना कर... रत्नत्रय की भावना द्वारा मोक्षमार्ग में लग जा... अंतर्दृष्टि द्वारा तू अपने उत्कृष्ट परमस्वरूप में लीन हो जा, तो तेरा परिणमन भी उस ओर बढ़-बढ़कर उत्कृष्ट आनंदरूप हो जायेगा।

अरे जीव! तू परमेष्ठी पद को प्राप्त कर ले—ऐसी बात हम तुझे सुनाते हैं, उसे तू सुन! जगत के छहों द्रव्यों को जाननेवाला तेरा उत्कृष्ट ज्ञानस्वभाव है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करने से तू परम इष्ट ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—अन्य भवों की अपेक्षा मनुष्यभव को दुर्लभ क्यों कहा ?

उत्तर—चारों गति के जीवों में मनुष्यों की संख्या सबसे कम है। जगत के सर्व जीवों में मनुष्य अनंतवें भाग हैं; तथा क्षायिक सम्यक्त्व और पंचम गुणस्थान से उच्च सभी दशाएँ (मुनिपना, केवलज्ञान, तीर्थंकरपना आदि) भी मनुष्यभव में ही होती हैं, इस कारण मनुष्यभव उत्तम है। ऐसा दुर्लभ और उत्तम मनुष्यभव पाकर यदि धर्म साधना की जाए, तभी उसकी सफलता है, धर्मसाधना रहित मनुष्यपने का मूल्य तो कौड़ी का भी नहीं है; इसलिए मनुष्यभव को दुर्लभ कहकर शास्त्रकार कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मनुष्यभव पाकर अब तू धर्म की आराधना कर। वैसे तो देव, नरक और तिर्यंच गति में भी अनेक जीव धर्म की अमुक आराधना करते हैं; परंतु साक्षात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग मनुष्यभव के बिना संभव नहीं है।

* * *

प्रश्न—प्रतिदिन शास्त्रों का अभ्यास करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा या नहीं ?

उत्तर—शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप जैसा कहा है, तदनुसार सत्समागम से लक्षगत करके, पश्चात् शास्त्र में कही हुई अंतर्मुख विधि से उसका निरंतर अभ्यास करने से सम्यग्दर्शन होता है। अंतरंगभावश्रुत के लक्षपूर्वक द्रव्यश्रुत का अभ्यास करने को कहा है। शास्त्रों में जिसप्रकार कहा है, तद्नुसार जो अंतर में अभ्यास करता है, उसे सम्यग्दर्शनादि अवश्य होते हैं।

* * *

प्रश्न—विचार कितने प्रकार के हैं ? सच्चा विचार लाने का सरल उपाय क्या है ?

उत्तर—विचार दो प्रकार के हैं—एक आत्मा संबंधी और दूसरे परसंबंधी; अथवा एक धर्मसंबंधी विचार और दूसरे संसार संबंधी विचार; अथवा तीसरे प्रकार से कहें तो शुभ और अशुभ—ऐसे दो प्रकार के विचार हैं। उत्तम विचार अर्थात् आत्महित संबंधी धार्मिक विचार। विचार सदा ज्ञान के अनुसार होते हैं; ज्ञान सच्चा हो तो विचार सच्चे आते हैं; ज्ञान में भूल हो तो

विचार में भी भूल आती है। क्योंकि विचार एक प्रकार से ज्ञान का ही मंथन है। सच्चे और उत्तम विचार लाने के लिए प्रथम सत्संग से तथा शास्त्राभ्यासपूर्वक आत्मा का सच्चा स्वरूप और उसके स्वभाव की अपार महिमा लक्षगत करना चाहिये। मुमुक्षु जीव को आत्म-विचार की मुख्यता होती है। 'विचार' के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम;
बीजुं कहीअे केटलुं कर विचार तो पाम॥

* * *

प्रश्न—तत्त्व को समझने के लिये किन शास्त्रों का अभ्यास जरूरी है ?

उत्तर—जैन आचार्यों द्वारा रचित सर्व शास्त्र तत्त्व समझने के लिये ही रचे गये हैं। गुरुगम से सच्चे लक्षपूर्वक किसी भी जैनशास्त्र का अभ्यास करने से वीतरागी तत्त्वज्ञान की पुष्टि होती है, इसलिये किसी अमुक शास्त्र के अभ्यास का नियम नहीं है; तथापि प्राथमिक तत्त्वज्ञान के अभ्यास की दृष्टि से छहढाला, द्रव्यसंग्रह, जैनसिद्धांत प्रवेशिका, तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि शास्त्र उपयोगी हैं। समयसार, परमात्मप्रकाश आदि अध्यात्म-शास्त्रों का ज्ञान तत्त्व समझने में अत्युपयोगी है। अन्य भी अनेक शास्त्र हैं।

* * *

प्रश्न—मोक्ष में खाना-पीना आदि नहीं है, तो वहाँ सुख किसप्रकार होगा ?

उत्तर—सुख तो आत्मा में है; खाने-पीने में सुख नहीं है; इसलिये जहाँ आत्मा हो, वहाँ उसका सुख होता है। सिद्ध भगवंतों को जो सुख है, वह अपने आत्मा से ही हुआ है, वह किसी अन्य वस्तु द्वारा उत्पन्न नहीं है। सुख आत्मा का स्वभाव है। वर्तमान में हम भी यदि आत्मा के स्वभाव को लक्ष में लें तो हमें भी सिद्धभगवान जैसे सुख का अनुभव हो सकता है। वह सुख ऐसा है कि खाना-पीना आदि किसी भी बाह्य वस्तु में उसका किंचित् आभास भी नहीं है। आत्मा के ऐसे अतीन्द्रिय सुख को पहिचानने से सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा भगवान कुन्दकुन्दस्वामी का वचन है।

* * *

प्रश्न—हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट करने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर— इन तीन की—रत्नत्रय की—प्राप्ति कैसे हो, वह बतलाने के लिये ही संतों ने हजारों-लाखों शास्त्रों की रचना की है। कुन्दकुन्दाचार्य रत्नत्रय की प्राप्ति के उद्यम का स्वरूप दर्शाते हुए (समयसार की १८वीं गाथा में) कहते हैं कि-मोक्षार्थी जीव को प्रथम तो प्रयत्न द्वारा जीव-राजा को जानना चाहिये कि परभावों से भिन्न ज्ञान की अनुभूतिमात्र मैं हूँ; उस ज्ञान के साथ श्रद्धा करनी चाहिये कि—'यही मैं हूँ;' पश्चात् उस जाने हुए एवं श्रद्धा किये हुए आत्मा में लीन होना चाहिये—इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि होती है अर्थात् ऐसे उद्यम द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, अन्य प्रकार नहीं होते।

* * *

प्रश्न— आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य-शरीर की अच्छी तरह से जाँच की है, परंतु आत्मा कहीं दिखायी नहीं दिया;—तो आत्मा कहाँ होगा ?

उत्तर— एक आदमी को सोने की खोज करना थी; उसने कोयले के ढ़ेरों में बहुत ढूँढ़ा लेकिन सोना कहीं हाथ नहीं आया। भाई, तुम्हारी बात भी उसी जैसी है। अरे, आत्मा को ढूँढ़ना हो तो वह जड़-अजीव के ढ़ेर में कहाँ से मिलेगा ? आत्मिक गुणों में ढूँढ़े तो आत्मा की प्राप्ति हो। अब दूसरी बात—आज जिसे विज्ञान कहा जाता है, उसके खोजने के साधन इतने स्थूल हैं (लोगों को भले ही सूक्ष्म लगते हों, परंतु ज्ञानदृष्टि में तो वे एकदम स्थूल हैं) कि अत्यंत स्थूल ऐसे जड़ पदार्थों की खोज में ही वे काम आ सकते हैं; सूक्ष्म अरूपी पदार्थों को वे नहीं ढूँढ़ सकते। आत्मा सूक्ष्म अरूपी वस्तु है, वह मन के विकल्प से भी पकड़ में नहीं आता तो फिर स्थूल जड़ साधनों द्वारा तो कैसे पकड़ा जा सकता है ? वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। तीसरी बात यह है कि—आधुनिक विज्ञान ने वनस्पति आदि में 'जीवन' स्वीकार किया है... अर्थात् शरीर के अलावा अन्य कोई विजातीय तत्त्व है। जड़ से भिन्न ज्ञानादि निजस्वरूप में आत्मा है; जिनदेव कथित वीतरागविज्ञान द्वारा उसे स्पष्ट जाना जा सकता है—उसका अनुभव किया जा सकता है। श्रीमद् राजचंद्र कहते हैं कि—

आत्मा की शंका करे, स्वयं आत्मा आप;
शंका का करनार वह, अचरज यही अमाप।

शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि अन्य अनेक प्रकार से हो सकती है; वह सत्संग से तथा शास्त्राभ्यास द्वारा समझ में आ सकता है। शरीर से भिन्न आत्मा का स्वरूप कैसा

है ? वह प्रत्येक छोटे-बड़े को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह हमारे जैनधर्म की मूल विद्या है।

* * *

प्रश्न—'धर्म को भूल जाने से' जीव संसार में अनेक दुःख प्राप्त करता है... किसलिये ?

उत्तर—आपके प्रश्न के प्रथम दो-तीन शब्दों में ही आपके प्रश्न का उत्तर लिखा हुआ है। तथापि दूसरे शब्दों में उत्तर चाहिये हो तो—

'जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनंत' (श्रीमद् राजचन्द्र)

और अब, 'समझो आत्मस्वरूप तो, हो उस दुःख का अंत।'

* * *

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव जगत के वैभव की ओर आकर्षित नहीं होते... क्यों ?

उत्तर—क्योंकि जगत के वैभव में आत्मा का अंशमात्र सुख उन्होंने नहीं देखा है और चैतन्य के अपार निजवैभव को जानकर उसके परम सुख का स्वाद लिया है ! वे अब बाह्य वैभव की ओर क्यों आकर्षित होंगे ?

प्रश्न—जब मनुष्य पर दुःख पड़ता है, तब उसमें समता और दृढ़ता क्यों आ जाती है ?

उत्तर—यद्यपि सबके लिये यह बात नहीं है, परंतु जो जीव विरागी हो, जिसके हृदय में आत्मार्थ हो, वह जीव ऐसे प्रसंगों में जगत की असारता पर विचार करके वैराग्य के वेग से आत्मोन्मुख होता है; इसलिये उसमें समता और दृढ़ता सहज ही आ जाती है। जगत का कोई प्रसंग उसके आत्मार्थ को नहीं तोड़ सकता।

* * *

प्रश्न—सद्गुरु को पहिचानने के लिये क्या करना चाहिये ? (दूसरे का अभिप्राय माने बिना स्वयं क्या करे ?)

उत्तर—वीतरागस्वभाव की आराधनारूप जिसका जीवन हो और जिसके उपदेश का अनुसरण करने से आत्मा का हित होता है—ऐसी स्वयं को प्रतीति हो, उस संत को सद्गुरु जानना चाहिये। (यहाँ आत्मज्ञानी संत को सद्गुरु मानकर बात की है। देव-गुरु-शास्त्र में रत्नत्रयधारी मुनि भगवंतों को गुरुरूप में स्वीकार करते हैं।) ज्ञानी संत की सच्ची पहिचान

उसके साक्षात् परिचय से होती है। श्रीमद् राजचंद्र का एक वचन है कि—'मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहिचान लेते हैं।'

तथा जो दूसरे का अभिप्राय मानते हैं, वे भी स्वयं को वह अभिप्राय बैठ गया हो, तब मानते हैं न? आत्महित की सच्ची जिज्ञासा अपने में जागृत होने के कारण आत्महित का मार्ग बतलानेवाले गुरु को वह पहिचान ही लेता है और आत्मा का अहित करनेवाले कुगुरु की बात उसे कदापि नहीं बैठती।

* * *

प्रश्न—जब तक सद्गुरु का योग न मिले, तब तक क्या करना?

उत्तर—सुपात्र जीव को प्रथम तो किसी न किसी प्रकार से सत्पुरुष का योग मिल ही जाता है। देखो न, भोगभूमि में विद्यमान ऋषभदेव आदि के जीवों में जब सम्यक्त्व की पात्रता हुई, तब वहाँ विदेहक्षेत्र से आकाशमार्ग द्वारा दो वीतरागी मुनिवरों ने आकर उनको बोध दिया।—ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं। सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् सदा उनके योग में रहना न बन सके तो उन्हें अपने हृदय में रखकर, उनके द्वारा प्रतिबोधित उपदेश का वैराग्यपूर्वक चिंतन करना चाहिये, आत्महित की पुष्टि हो ऐसे विचार एवं पठन-पाठन करना चाहिये, साधर्मी का संग एवं तत्त्वचर्चा करना चाहिये। साधर्मी का संग तो मुख्य है।

ग्राहकों से निवेदन

पिछले अंक में हमने ग्राहकों को सूचित किया था कि डाक-विभाग की ओर से पोस्टेज की दरें बढ़ने की संभावना होने से आत्मधर्म के वार्षिक चंदे में कुछ वृद्धि करना पड़ेगी; परंतु अभी तक डाक-विभाग की ओर से पोस्टेज की बढ़ी हुई दरें घोषित नहीं की गई हैं और आत्मधर्म का नया वर्ष वैशाख महीने से प्रारम्भ होता है; इसलिये नये वर्ष का चंदा ३) तीन रुपये ही रखने का निर्णय किया गया है। ग्राहकों से निवेदन है कि अपना नये वर्ष का चंदा ३) तीन रुपये मनी आर्डर द्वारा भिजवा देवें, ताकि वैशाख महीने का अंक समय पर मिल सके।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दिगम्बर जैन तीर्थयात्रा संघ फतेपुर (गुजरात) की श्री गोमटेश्वर (श्रवणबेलगोला) यात्रा के धर्मप्रभावनामय समाचार

पोन्नूर हिल:—(तारीख ८-९ मार्च) श्री बाबूभाई के नेतृत्व में ७०० यात्रियों का विशाल संघ पोन्नूर हिल पहुँचा। पोन्नूर हिल श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तपोभूमि है—जिसका जीर्णोद्धार सोनगढ़ के संत पूज्य श्री कानजीस्वामी ने कराया है। इसी क्षेत्र से श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पूर्व-विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान के समवसरण में गये थे। यात्रियों ने बड़े ही उत्साह एवं उल्लासपूर्वक कुन्दकुन्द भगवान के चरणों का अभिषेक-पूजा-वंदना की। पश्चात् श्री बाबूभाई का प्रवचन एवं भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने पूज्य श्री कानजीस्वामी का परम उपकार व्यक्त किया और कहा कि—उन्हीं के प्रभाव एवं प्रताप से यह मंगल-यात्रा हुई है। यात्रियों ने यथाशक्ति दान की घोषणा करके अपना हार्दिक आनंद व्यक्त किया। श्री सूरजमलजी छाबड़ा कुचामनवालों ने श्री सीमंधर भगवान की प्रतिमाजी विराजमान कराने की तथा श्री सुशीलकुमारजी राघौगाढ़वालों ने भगवान आदिनाथ की प्रतिमाजी विराजमान कराने की घोषणा की। संगमरमर की सुंदर वेदी, श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान की प्रतिमाजी एवं जिनवाणी की स्थापना की घोषणा श्री जवाहरलालजी विदिशा, श्री माणिकचंदजी लोहाड़िया इंदौर तथा अन्य तीन भाईयों ने मिलकर की थी। यात्रा संघ द्वारा करीब ३५०००) का चंदा हुआ। पोन्नूर ग्राम जहाँ २००० वर्ष पुराना विशाल जिनमंदिर है और जहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन करने आते थे, वहाँ भी संघ ने हर्षोल्लासपूर्वक दर्शन-पूजन किये। आसपास के ग्रामों से हजारों दिगम्बर जैन एकत्रित हुए थे। श्री बाबूभाई को सन्मान-पत्र दिया गया।

बैंगलोर—(तारीख १०-११ मार्च) यहाँ श्री जुगराजजी सेठ द्वारा शास्त्रसभा स्वाध्याय का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ था। शास्त्रसभा का उद्घाटन राज्यसभा के मंत्री द्वारा हुआ। विशाल सभा में प्रवचन करते हुए श्री बाबूभाई ने सर्वज्ञ-वीतरागकथित न्याय, रागादि अन्याय तथा स्वदेश की सेवा क्या है ? आदि बातें बड़े ही सरल ढंग से शास्त्रीय भाषा में समझायीं और कहा कि भारत की विशेषता अध्यात्म-जीवन से है; तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का उपाय है। आदि

सुनकर सब प्रसन्न हुए। श्री तुकोलजी तथा श्री पाटिलजी ने बहुत आनंद व्यक्त किया। पश्चात् मैसूर होकर...

गोम्मटगिरि—(तारीख १४-३-६८) यहाँ बाहुबलीस्वामी की विशाल प्रतिमाजी हैं। सभी ने वंदन-पूजन-अभिषेक किया। धर्मशाला-निर्माण के लिये ३४००) दान में दिये। इतने ही रुपये की ग्रांट राज्य-सरकार की ओर से मिलेगी।

विंध्यगिरि—(तारीख १५-३-६८) श्री बाहुबलीजी की समूह यात्रा की। अभिषेक बोली में २२००) की आय हुई। दोपहर को नंदीश्वर विधान-पूजा की। यहाँ बैंगलोर से अग्रगण्य व्यक्ति आये थे। संघ के द्वारा प्राप्त निधि की अच्छी व्यवस्था हो जायेगी।

श्रवणबेलगोला—(तारीख १४ से १८ मार्च) श्री बाबूभाई के साथ ८०० यात्रियों ने भारी उत्साह से पवित्र यात्रा की। सभी को अति आनंद हुआ। भगवान का अभिषेक-पूजन, भक्ति के साथ यहाँ चार दिन तक नंदीश्वर सोलहकारण विधान-पूजन हुआ, श्री बाबूभाई पूजन के भावों का अर्थ समझाते थे। सुनकर सभी बहुत प्रभावित हुए। श्री बाहुबली भगवान की महामनोज्ञ वीतराग मुद्रा देख-देखकर तृप्ति नहीं होती। बाहुबली भगवान की प्रतिमा मूक उपदेश द्वारा निरंतर यथार्थता, वीतरागता, स्वतंत्रता का प्रत्यक्ष दर्शन करा रही है। श्री बाबूभाई ने सम्यग्दर्शन का अपूर्व महत्व समझाया, रात्रि को जिनेन्द्र-भक्ति सहित बहिनों ने 'श्री बाहुबलि चरित्र' पद्य में सुनाया। श्री जुगराजजी ने प्रत्येक व्यक्ति की परम स्नेहसहित एक रुपये की प्रभावना गिरिराज पर की। यहाँ यात्रासंघ द्वारा ३००००) का दान हुआ जिससे सरस्वती-भवन का निर्माण होगा।

श्रवणबेलगोला के पास जिननाथपुरी की यात्रा ऐतिहासिक बन गई है। वहाँ के श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा के चित्र-सन्मुख नमस्कार करके पूज्य स्वामीजी ने श्वेताम्बर संप्रदाय का त्याग करके दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया था। उस परिवर्तन में इन प्रतिमाजी का सदा स्मरण रहता है। और यह संघसहित भव्ययात्रा पूज्य श्री कानजीस्वामी के उपदेश का ही फल है।

मूडबिद्री—(तारीख २२-३-६८) १८ जिनमंदिर, मानस्तंभ, सिद्धांतभवन, त्रिभुवन-तिलकचूड़ामणि नामक आश्चर्यकारी विशाल जिनमंदिर, ताड़पत्रों पर प्राचीन शास्त्रजी एवं रत्नों की प्रतिमाजी के दर्शन-पूजन किये। अति प्राचीन जैनधर्म का वैभव देखकर

सब आनंदविभोर हुए। यहाँ मंदिरजी में कलामय दीपोत्सव बहुत सुंदर ढंग से हुआ। यात्रा हासम, हेलीबीडे, बेलुरु भी दर्शन करने गये थे।

कारकल-वारांग—(तारीख २२-२३ मार्च) कारकल में ४० फीट ऊँची श्री बाहुबली भगवान की प्रतिमाजी हैं। १०८ कलशों द्वारा अभिषेक हुआ, यहाँ बहुत मंदिर हैं। वारांग में दर्शन किये।

हुमचा—यहाँ प्राचीन जिनमंदिर हैं। 'पद्मावती' का मेला लगा था। श्री वर्धमानजी शास्त्री ने एवं भट्टारकजी श्री देवेन्द्रकीर्तिजी ने बाबूभाई को प्रवचन करने का आग्रह किया एवं श्रीफल तथा फूलमालाओं से स्वागत किया। श्री बाबूभाई ने प्रवचन में कहा कि जैनधर्म में वीतरागता ही सार है, अरहंतादि पंच परमेष्ठी ही पूज्य हैं। रागी देव का आलंबन करना मोक्षमार्ग में बाधक एवं घातक हैं। श्री वर्धमानजी शास्त्री ने पूरे प्रवचन का कन्नड़ अनुवाद तुरंत कन्नड़ भाषी लोगों को सुनाया। मोरेना निवासी श्री जगन्नाथजी शास्त्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि हमने पूज्य कानजीस्वामीजी को नहीं देखा है किंतु उनके शिष्य श्री बाबूभाई को देखकर, उनकी वास्तविक सौम्यमुद्रा एवं ब्रह्मचर्य का तेज देखकर हमें बहुत-बहुत आनंद हो रहा है।

कुन्दगिरि-कुन्दाद्रि—(तारीख २३-२४ मार्च) यह परम पावन क्षेत्र आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की निर्वाणभूमि अर्थात् समाधिमरण-क्षेत्र है। प्राचीन शिलालेख आदि दर्शनीय हैं, पहाड़ पर अब तो बहुत सुविधा है। पहाड़ महा मनोज्ञ है। आगमवे बस स्टेण्ड के पास गूढकेरे बस स्टेण्ड को छोड़कर दक्षिण दिशा में चार मील दूर है। यहाँ यात्रियों ने १०८ कलशों से अभिषेक तथा पूजा-भक्ति की। यहाँ श्री कानजीस्वामी दो बार यात्रा-वंदनार्थ आ चुके हैं।

हिम्मतलाल महेता
श्री गोम्मटेश्वर दिगम्बर जैन यात्रा संघ
फतेपुर

एक आदर्श स्वाध्याय-मंडल

पिडावा (राजस्थान) में व्यवस्थितरूप से शुद्धाम्नायानुसार दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की प्रवृत्ति चल रही है; जिसमें श्री कोमलचंदजी जैन का सहयोग एवं प्रयत्न सराहनीय है। आपके नेतृत्व में सर्वज्ञ-वीतरागकथित निर्मल तत्त्वज्ञान की स्वाध्याय और जैनधर्म का पोषण हो रहा है। पिडावा के समाचार उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी महीदपुर, नलखेड़ा, सुसनेर, घरोला, झालरापाटन होते हुए तारीख २७-२-६७ के दिन पिडावा पधारे। पिडावा की समाज बहुत दिनों से आपके आगमन की प्रतिक्षा कर रही थी। ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी प्रतिदिन सवेरे ८.०० से ९.०० तक पूज्य कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन (जो टेप-रीलों में भरे हैं) सुनाते थे; पश्चात् उनका स्पष्टीकरण करते थे। सभा में श्रोताओं की संख्या ३०० तक होती थी। दोपहर को २.०० से ४.०० बजे तक स्वामीजी के प्रवचनों की टेप-रील के साथ ही साथ श्री रमेशचंद्रजी द्वारा शंका-समाधान का विषय चलता था। फिर रात्रि को भी टेपरेकार्डिंग सहित समझाते थे। रात्रि को संख्या ४००-५०० तक होती थी। एक रात्रि को तीर्थयात्रा की रंगीन फिल्म दिखायी थी। तीनों समय के प्रवचन में स्त्री-पुरुषों का उत्साह और शांति प्रशंसनीय थी। श्रोताओं में उस समय की तल्लीनता देखते ही बनती थी। श्री रमेशचंद्रजी की पात्रता, रुचि, कथनपद्धति और समझाने की शैली बहुत सुंदर थी। सर्वज्ञ-वीतरागकथित निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म, हेय-उपादेय आदि प्रयोजनभूत विषय लोगों को हृदयंगम करा देना आपकी विशेषता थी।

यहाँ के समाज में सोनगढ़ के संबंध में अनेक प्रकार की जो भ्रमणाएँ थीं, उनका निराकरण पूर्ण रीति से हो गया है। आज लोगों की भावनाओं में एक नवीन पवित्र जागृति उत्पन्न हो गयी है जो निरंतर बनी रहेगी। सोनगढ़ में सर्वज्ञकथित निश्चय-व्यवहार का कैसा समन्वय है, वह यहाँ के लोगों को भलीभाँति लक्षित हो गया है। यहाँ की समस्त जैन समाज सोनगढ़ के संत की वाणी सुनने के लिये बहुत अभिलषित थी। अंतिम दिन समस्त जैन समाज की ओर से समाज के अग्रणी श्री चौधरी मिश्रीलालजी द्वारा ब्रह्मचारी रमेशजी को सन्मान-पत्र दिया गया और महिला-मुमुक्षु मंडल एवं दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल पिडावा ने हृदय से सोनगढ़ की संस्था का तथा पूज्य श्री कानजीस्वामी का बहुत-बहुत उपकार माना और श्री जिनेन्द्रदेव से श्री पूज्य कानजीस्वामी की दीर्घायु की कामना करते हुए जिनशासन का प्रभाव

संसार में फैले ऐसी हार्दिक भावना व्यक्त की। श्री कोमलचंदजी, श्री कमलचतुरी, श्री बहिन सौभाग्यवतीबाई, श्री भंवरबाई, श्री फूलाबाई, श्री धापुबाई, श्री अनारबाई आदि ने तथा १०५ क्षुल्लक श्री पूर्णसागरजी ने विशेषरूप से सोनगढ़ की संस्था का एवं स्वामीजी का बहुत उपकार माना।

—श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, पिडावा (राज०)

सौराष्ट्र में

पूज्य गुरुदेव का मंगल-विहार

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सुख-शांतिपूर्वक सौराष्ट्र में विहार कर रहे हैं और जगह-जगह खूब धर्म-प्रभावना हो रही है। पोरबन्दर में ८ दिन का कार्यक्रम समाप्त करके पूज्य गुरुदेव जैतपुर, गोंडल, मोरबी, वांकानेर, चोटीला, सुरेन्द्रनगर होते हुए आजकल वढवाण सिटी में विराज रहे हैं। पूज्य गुरुदेव जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ के वातावरण में एक धार्मिक-उत्साह छा जाता है और हजारों की संख्या में नर-नारी गुरुदेव के प्रवचनों से लाभान्वित होते हैं। वैशाख कृष्णा ११ के तारीख २३-४-६७ के दिन वढवाण से विहार करके गुरुदेव जोरावरनगर पहुँचेंगे। तत्पश्चात् वैशाख कृष्णा १४ तारीख २६-४-६८ को वींछिया पधारेंगे जहाँ वैशाख शुक्ला २ के दिन पूज्य गुरुदेव की जन्म-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनायी जायेगी। वहाँ से वैशाख शुक्ला ७ तारीख ४-५-६८ के दिन विहार करके दो दिन के लिये गुरुदेव अपनी जन्मभूमि उमराला पधारेंगे और वहाँ से वैशाख शुक्ला ९वीं, तारीख ६-५-६८ के दिन प्रातःकाल विहार करके लींबड़ी पहुँचेंगे जहाँ वैशाख शुक्ला १४ तक (तारीख ६-५-६८ से ११-५-६८ तक) ६ दिन रहेंगे। और वहाँ से विहार करके वैशाख शुक्ला १५ रविवार तारीख १२-५-६८ के दिन प्रातःकाल सोनगढ़ पधारेंगे।

सोनगढ़ में ज्येष्ठ कृष्णा १ सोमवार, तारीख १३-५-६८ से ज्येष्ठ शुक्ला ५ तारीख १-६-६८ तक जैन विद्यार्थी शिक्षणवर्ग का आयोजन किया है, जिसके समाचार इसी अंक में अन्यत्र देखें।

नये प्रकाशन

छहढाला (सचित्र)

सर्वज्ञ-वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप यह ग्रंथ पाठय-पुस्तकरूप में भी जैन समाज में अति-प्रचलित है। इसमें पंडित श्री दौलतरामजी ने जैन-तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भाँति भर दिया है। रंगी चित्रों के कारण पढ़ने में विशेष रुचि और समझने में सरलता रहती है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य-१-५० होने पर भी मात्र १) में कमीशन नहीं है।

अपूर्व अवसर-प्रवचन

[श्रीमद् राजचंद्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' काव्य पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन]

यह काव्य अत्यंत रोचक, आत्मिक उत्साहमय, अध्यात्मरस से भरपूर बारंबार पढ़ने योग्य हैं; खूब माँग होने से यह इसकी तीसरी आवृत्ति है। इस बार इसमें पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरणस्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना का समावेश किया है।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास

अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म-पंचसंग्रह, भावदीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है; अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़नेयोग्य है।

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन पोस्टेज अलग।

प्राप्तिस्थान : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)